वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 374
ISBN-978-93-82071-54-9

जिनागम में द्वादश तप

–संकलनकर्त्री–

**जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी,
दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी**

शरदपूर्णिमा महोत्सव-2012, पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के 61वें त्यागदिवस के अवसर पर घोषित चारित्रवर्धनोत्सव वर्ष 2012-2013 के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org, E-mail : jambudweeptirth@gmail.com
Facebook : jaintirthjambudweep

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2539	मूल्य
1100 प्रतियाँ	चैत्र कृ. एकम्, 28 मार्च 2013	28/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: निर्देशक एवं सम्पादक:–

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

–: प्रबंध सम्पादक :–

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने श्रावकों के लिए षट् आवश्यक कर्त्तव्य बताए हैं जिसमें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान को लिया है और उसमें भी मुख्य रूप से 'दाणं पूजा मुक्खो' दान और पूजन को मुख्य बताया है जिसके बिना वह श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं है।

वर्तमान में पूजन-विधान के क्षेत्र में जैन समाज की अमूल्य धरोहर के रूप में महान प्राचीन साध्वी परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होंने न केवल पूजन-विधान अपितु न्याय, व्याकरण, अध्यात्म, सिद्धान्त, भूगोल, छन्द, अलंकार आदि प्रत्येक विषयों से समन्वित अनेक उच्च कोटि के ३०० ग्रन्थों का सृजन किया है, उनका यह योगदान जिनशासन के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। वास्तव में बीसवीं शताब्दी गौरवशाली है जब उसे साक्षात् सरस्वती-स्वरूपा पूज्य माताजी प्राप्त हुई हैं जिन्होंने जैनागम के चतुरनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर सरल, सरस, मिष्ट और सारगर्भित कृतियाँ हमें प्रदान कीं जिन्हें वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला से प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त गौरव का अनुभव होता है।

यह हम सभी का परम सौभाग्य ही है कि हमें इस कलिकाल में भी पूज्य माताजी जैसी महान साध्वी के दर्शन के साथ-साथ उनके द्वारा किए जा रहे तीर्थ निर्माण, साहित्य लेखन, आर्षमार्ग का संरक्षण-संवर्धन आदि महानतम कार्यों को देखने तथा उसमें अपनी सहभागिता प्रदान करने का भी सुअवसर प्राप्त हो रहा है। आज के प्रगतिवादी युग में धर्म से विमुख प्राणियों में धर्म का संचार करने के लिए पूज्य माताजी द्वारा लिखित पुस्तकें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं जिसमें से यह अमूल्य कृति "जिनागम में द्वादश तप" है जिसमें पूज्य माताजी ने अनेक पूर्वाचार्यों के महानतम ग्रन्थों का आलोढन कर उसमें से बारह तपों का सम्पूर्ण विवरण निकालकर उसे एक स्थान पर संकलित कर हम पर महान उपकार किया है।

वस्तुतः अगर आज का प्राणी जैनागम में वर्णित इन सिद्धान्तों को अपना लेवे तो विश्व में फैली अशान्ति, अराजकता और आतंकवाद जैसी गम्भीर समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाएँगी। अतएव पूज्य माताजी की प्रत्येक कृति से जीवनोपयोगी शिक्षाएँ लेते हुए आप सभी अपने जीवन को समुन्नत बनावें और ये बारह तप भव्य प्राणी के कल्याण में निमित्तभूत बनें यही इस पुस्तक के प्रकाशन की सार्थकता है।

प्रस्तावना

–ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने आचारांग के अंशरूप दिगम्बर मुनि-आर्यिकाओं की चर्या का निरूपण करने वाले 'मूलाचार' नामक ग्रन्थ में २८ मूलगुणों का विस्तृत विवेचन किया है, साथ ही बारह तप और बाईस परीषह ये चौंतीस उत्तरगुण मान कर उनका भी सुन्दर वर्णन किया है। छः बहिरंग और छः अन्तरंग तप के भेद से वर्णित इन बारह तपों की अचिन्त्य महिमा है जिसका वर्णन करते हुए श्री सोमप्रभ आचार्य ने सूक्तिमुक्तावली ग्रन्थ में कहा है—

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना।
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरं।।
निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं।
कर्मौघं तपसा विना किमपरं हर्तुं समर्थस्तथा।।८३।।

अर्थात् जैसे वन को जलाने के लिए दावानल अग्नि के बिना अन्य दूसरा समर्थ नहीं है, दावानल को शांत करने के लिए बिना मेघों के अन्य कोई समर्थ नहीं है, जैसे मेघों को छिन्न-भिन्न करने के लिए पवन के बिना दूसरा शक्तिमान नहीं है उसी प्रकार कर्मों को नष्ट करने के लिए तप के बिना क्या कोई दूसरा समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है।

तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थराज में भी तप का वर्णन करते हुए कहा है—'कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः' अर्थात् कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है वह तप है। इसी तप का आश्रय लेकर हमारे तीर्थंकर भगवन्तों ने ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन को जलाकर सिद्धपद प्राप्त कर लिया। दिगम्बर मुनि-आर्यिकाएँ इसी तप का आश्रय लेकर कर्मनिर्जरा करते हैं तथा श्रावक-श्राविकाएँ भी अपनी शक्ति के अनुसार अनेक व्रतादि के द्वारा तप करते देखे जाते हैं।श्री गौतम स्वामी से लेकर अनेक महान आचार्यों ने इन तपों के वर्णन में अन्तरंग एवं बाह्य तप के भेद करते हुए अलग-अलग प्रकार से उनका जो भी क्रम रखा है उसको उन-उन ग्रन्थों से संकलित कर उसका पूर्णरूपेण ज्ञान प्रदान करने वाली जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी हम सबके लिए परम स्तुत्य हैं। बीसवीं शताब्दी की साक्षात् सरस्वतीस्वरूपा पूज्य माताजी ने जैनागम के चतुरनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त पर तीन सौ ग्रन्थों का लेखन कर जिनशासन पर महान उपकार किया है जिसके लिए जैन

समाज उनका चिरऋणी रहेगा। आगम को अपना प्राण मानने वाली पूज्य माताजी की लेखनी आज ७८ वर्ष की उम्र में भी सतत प्रवाहमान है जिसका प्रतिफल ही यह अमूल्य कृति "जिनागम में द्वादश तप" है। पूज्य माताजी का सदैव यही कहना रहता है कि जिन-जिन ग्रन्थों में आचार्यों ने जिस-जिस विषयवस्तु का जो-जो क्रम रखा है उसे उसी क्रम से पढ़ना-पढ़ाना चाहिए उसमें संशोधन करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

वस्तुतः हम और आप जैसे अल्पज्ञानियों के लिए तो यही उचित है कि हम उन तपों को पढ़कर अच्छी तरह हृदयंगम कर उन्हें क्रम-क्रम से अपने जीवन में उतारें और कर्मों का क्षय करके एक दिन सिद्धपद की प्राप्ति करने में सक्षम बनें। यह कृति हम सबके जीवन में पूर्ण तपश्चरण कर कर्मशृंखला को काटने में निमित्तभूत बने और ऐसी अमूल्य कृतियों की प्रदात्री पूज्य माताजी स्वस्थ एवं चिरायु रहकर सदैव हम पर अपना वरदहस्त बनाए रखें यही वीरप्रभू से मंगलकामना है।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

—प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान — टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि — आसोज सुदी १५ (शरदपूर्णिमा) वि. सं. १९९१, (२२ अक्टूबर सन् १९३४)

जाति — अग्रवाल दि. जैन, **गोत्र —** गोयल, **नाम —** कु. मैना

माता-पिता — श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत — ई. सन् १९५२, बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा — चैत्र कृ. १, ई. सन् १९५३ को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम — क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा — वैशाख कृ. २, ई. सन् १९५६ को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व— अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं लगभग ३०० ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद उपाधि — सन् १९९५ में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा ८ अप्रैल २०१२ को "डी.लिट्." की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा — हस्तिनापुर में जंबूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा— भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ परतीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की ३१-३१ फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन १०८ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा, महावीर जी तीर्थ पर महावीर धाम में पंचबालयति मंदिर, शिर्डी में ज्ञानतीर्थ इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा — पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से २१ दिसम्बर २००८ को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा — 'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा — जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (१९८२ से १९८५), समवसरण श्रीविहार (१९९८ से २००२), महावीर ज्योति (२००३-२००४) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

—जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

ईसवी सन् १९७२ में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित उक्त संस्था के द्वारा जम्बूद्वीप रचना के निर्माण हेतु मेरठ (उ.प्र.) के ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर में नशिया मार्ग पर जुलाई १९७४ में एक भूमि क्रय की गई, जहाँ सर्वप्रथम २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की अवगाहना प्रमाण सात हाथ (सवा दस फुट) ऊँची खड्गासन प्रतिमा विराजमान करने हेतु फरवरी १९७५ में एक लघुकाय जिनालय का निर्माण किया गया, जो सन् १९९० में एक अनोखे 'कमल मंदिर' के रूप में निर्मित हुआ है। यहाँ विराजमान कल्पवृक्ष भगवान महावीर से यह अतिशय क्षेत्र निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होता हुआ नित्य नये निर्माणों के द्वारा संसार में अद्वितीय पर्यटन स्थल के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रतिमा के दर्शन करके भक्तगण अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

जम्बूद्वीप निर्माण का प्रथम चरण — जुलाई सन् १९७४ में रखी गई नींव के आधार पर जम्बूद्वीप के बीचोंबीच में सर्वप्रथम आगम वर्णित सुमेरुपर्वत (१०१ फुट ऊँचा) का निर्माण अप्रैल सन् १९७९ में एवं सन् १९८५ में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण पूर्ण हुआ। सोलह जिनमंदिरों से समन्वित उस सुमेरुपर्वत के अंदर से निर्मित १३६ सीढ़ियों से चढ़कर श्रद्धालु भक्त समस्त भगवन्तों के दर्शन करके जब सबसे ऊपर पाण्डुकशिला के निकट पहुँचते हैं, तो नीचे जम्बूद्वीप रचना के सभी नदी, पर्वत, मंदिर, उपवन आदि दृश्यों के साथ-साथ हस्तिनापुर के आसपास के सुदूरवर्ती ग्रामों का भी प्राकृतिक सौंदर्य देखकर फूले नहीं समाते हैं।

यात्री सुविधा — हस्तिनापुर तीर्थ में जम्बूद्वीप स्थल के पूरे परिसर में संस्थान द्वारा कार्यालय का सक्रिय संचालन किया जाता है। वहाँ यात्रियों के ठहरने हेतु आधुनिक सुविधायुक्त २०० कमरे, ५० से अधिक डीलक्स फ्लैट एवं अनेकों गेस्ट हाउस (बंगले) बने हुए हैं। इसके साथ ही यहाँ सुन्दर भोजनालय है जहाँ यात्रियों को सुविधापूर्वक शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त २ किमी. दूर हस्तिनापुर सेन्ट्रल टाउन में सरकारी अस्पताल, डाकखाना, बाजार, इंटरकालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाएँ आदि सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

हस्तिनापुर कैसे पहुँचे ? — भारत की राजधानी दिल्ली से ११० किमी. पश्चिमी उत्तरप्रदेश में जिला-मेरठ से ४० किमी. दूर हस्तिनापुर तीर्थ है। राजधानी दिल्ली से हस्तिनापुर के लिए अंतर्राज्यीय बस अड्डे अथवा आनंद विहार बस अड्डे से उत्तरप्रदेश रोडवेज तथा डी.टी.सी. बसों की निरंतर सेवा उपलब्ध है। मेरठ से भी प्रति आधे घंटे के अंतराल से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पहुँचने हेतु रोडवेज की बसें सुलभता के साथ उपलब्ध रहती हैं। 'जम्बूद्वीप' के नाम से ये बसें चलती हैं जो सीधे जम्बूद्वीप के सामने ही रुकती हैं और जम्बूद्वीप से ही मेरठ, दिल्ली, तिजारा आदि यात्रा हेतु बसें उपलब्ध रहती हैं। दिल्ली और मेरठ के बीच रेल सेवा भी है। देश-विदेश के यात्रीगण हस्तिनापुर पधारकर इस धरती का स्वर्ग मानी जाने वाली 'जम्बूद्वीप रचना' के दर्शन करें और मानसिक शांति का अनुभव करते हुए मनवांछित फल प्राप्त करें, यही मंगलकामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

१. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, रोहतक, दिल्ली-६।
२. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
३. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-१९, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
४. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
५. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
६. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
७. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-९२।
८. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
९. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
१०. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
११. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
१२. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-९२।
१३. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
१४. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
१५. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
१६. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
१७. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-४, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कॉनॉट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

१. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
२. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, ७९२ विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
३. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
४. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
५. स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
६. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
७. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
८. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
९. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
१०. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
११. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
१२. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
१३. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
१४. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
१५. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-७।
१६. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
१७. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
१८. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
१९. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., श्री अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
२०. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
२१. श्रीमती आदर्श जैन ध.प. स्व. श्री अनन्तवीर्य जैन के सुपुत्र श्री मनोज कुमार जैन, मेरठ।
२२. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)।

जिनागम में द्वादशतप

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।१।।
बहिरन्तस्तपांसि ये, कुर्वन्तो ध्यान बन्हिना।
कर्मेन्धनानि संदह्य, सिद्धास्तान् नौमि तान्यपि।।१।।

अर्थ—जिन्होंने बहिरंग और अन्तरंग ऐसे बारह तपों को करते हुए ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन को जलाकर सिद्धपद प्राप्त कर लिया है, उन सिद्ध भगवन्तों को एवं उन बारह तपों को भी नमस्कार करता हूँ।

श्री गौतम स्वामी के मुखकमल से निर्गत यति प्रतिक्रमण—पाक्षिक प्रतिक्रमण सर्वत्र दिगम्बर जैन आचार्य, मुनि, आर्यिका आदि साधु-साध्वियों द्वारा प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस या पूर्णिमा को पढ़ा जाता है। इस प्रतिक्रमण ग्रन्थ की श्री प्रभाचंद्राचार्य कृत टीका जो कि 'प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी' नाम से छपी है। इनमें बारह तपों में बाह्यतप के १. अनशन,२. अवमौदर्य, ३. वृत्त परिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. कायक्लेश एवं ६. विविक्त शयनासन ऐसाक्रम है तथा अन्तरंग तप के—१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग ऐसा क्रम है। यही क्रम षट्खंडागम ग्रन्थ की पुस्तक तेरहवीं की धवला टीका में है, यही क्रम मूलाचार ग्रन्थ में श्री कुंदकुंददेव ने लिया है।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में बाह्य तप में पाँचवें स्थान पर विविक्तशयनासन एवं छठे

स्थान पर कायक्लेश लिया है। ऐसे ही अंतरंग तप में पाँचवें स्थान में व्युत्सर्ग एवं छठे स्थान में ध्यान को लिया है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण के टीकाकार एवं मूलाचार ग्रन्थ के टीकाकार श्री वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मूल के अनुसार ही टीका की है, क्रम नहीं बदला है। ऐसे ही तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार श्री अकलंकदेव, श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री विद्यानंद महोदय-महान आचार्य एवं श्रुतसागर सूरि आदि ने भी तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार ही क्रम रखा है।

आश्चर्य है कि वर्तमान के कुछ विद्वान पाक्षिक प्रतिक्रमण में बहिरंग तप में कायक्लेश को छठे स्थान में एवं ध्यान को छठे स्थान में रखकर तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार क्रम बदल रहे हैं। यह बहुत ही खेद का विषय है। मेरा यही कहना है कि जब उन-उन ग्रन्थों के टीकाकारों ने क्रम नहीं बदले हैं तो हमें और आपको भी तपों में क्रम नहीं बदलना चाहिए।

श्री गौतमस्वामी श्री कुंदकुंददेवादि कथित	**श्री उमास्वामी कथित**
६. बाह्य तप	**६. बाह्य तप**
१. अनशन	१. अनशन
२. अवमौदर्य	२. अवमौदर्य
३. वृत्तपरिसंख्यान	३. वृत्तपरिसंख्यान
४. रसपरित्याग	४. रसपरित्याग
५. कायक्लेश	५. विविक्तशय्यासन
६. विविक्तशय्यासन	६. कायक्लेश
६ अंतरग तप	**६. अंतरग तप**
१. प्रायश्चित्त	१. प्रायश्चित्त
२. विनय	२. विनय
३. वैयावृत्य	३. वैयावृत्य
४. स्वाध्याय	४. स्वाध्याय
५. ध्यान	५. व्युत्सर्ग
६. व्युत्सर्ग	६. ध्यान

इन-इन आचार्यों के व उनके ग्रंथों के अनुसार ही उन-उन तपों के क्रम को पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना व कहना चाहिये।

जिनागम में द्वादश तप

(पाक्षिक प्रतिक्रमण से[1])

तवायारो बारसविहो अब्भंतरो छव्विहो बाहिरो छव्विहो तत्थ बाहिरो अणसणं आमोदरियं वित्तिपरिसंखा रसपरिच्चाओ सरीरपरिच्चाओ विवित्तसयणासणं चेदि। तत्थ अब्भंतरो, पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि। अब्भंतरं बाहिरं बारसविहं तवोकम्मं ण कदं णिसण्णेण, पडिक्कंतं, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं[2]।।३।।

(प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी से[2])

।। तत्थ।। तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये।। बाहिरो।। बाह्यस्तपआचारः।। अणसणं।। अशनं भोजनं। तदभावोऽनशनमुपवासः।। ओमोदरियं।। अवमोदर्यमर्धभुक्त्यादि।। वित्तिपरिसंखा।। वृत्तिपरिसंख्यानं गृहग्रासादिकं परिगण्य वृत्तिः।। रसपरिच्चाओ।। रसपरित्यागो घृतादिरसपरित्यागः।। सरीरपरिच्चाओ।। आतपनादिकायक्लेशः।। विवित्तसयणासणं च।। विविक्ते स्त्रीपशुषंढवर्जिते प्रदेशे शय्यासनमिति। एवमुक्तषट्प्रकारो बाह्यस्तपआचारः।। अथ 'अब्भंतर' इत्याह — तत्थेत्यादि।। तत्र तयोर्द्वयोर्मध्येऽभ्यंतरस्तपआचारः — पायच्छित्तं।। आगमोक्तविधिना दोषनिर्हरणं प्रायश्चित्तं। तन्नवविधमालोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाभेदात् ।। विणओ।। विनयो गुणाधिकेषु नीचैवृत्तिः स चतुर्विधो

छह अभ्यंतर छः बाहिर से बारहविध तप आचार कहा।
उनमें से अनशन अमोदर्य वृतपरिसंख्या रसत्याग कहा।।
तनुपरित्याग-तनुक्लेश विविक्त शयनासन तप बाह्य कहे।
प्रायश्चित विनय सुवैयावृत स्वाध्याय ध्यान व्युत्सर्ग कहे।।
इन बारह तप को नहीं किया परिषह से पीड़ित छोड़ दिया।
तप किरिया में जो हानी की, वह दुष्कृत मेरा हो मिथ्या।।३।।

तप आचार बारह प्रकार का है — छह बाह्य तपाचार और छह आभ्यन्तर तपाचार। उनमें से बाह्य तपाचार के अनशन (उपवास), अवमौदर्य (अर्धोदर या अर्धभुक्ति आदि), वृत्तिपरिसंख्यान, घृतदुग्ध आदि रसों का त्याग, शरीरपरित्याग आतापनादि द्वारा

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण, मुनिचर्या पृ. २०२।
२. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी पृ. ७७-७८।

ज्ञानदर्शन-चारित्रोपचार भेदात्-वेज्जा-(आ) वच्चं।। वैयावृत्त्यं गुणवत्सु दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना कायचेष्टया द्रव्यांतरेण वा तदपनयनं। तद्दशविधमाचार्योपाध्यायत-पस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञविषयभेदात्।। सज्झाओ।। शोभन आध्यायः पाठः स्वाध्यायः। स पंचविधो, वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशभेदात् ।। झाणं।। ध्यानं चिंतानिरोधलक्षणं। तच्चतुर्विधमार्तरौद्रधर्म्यशुक्लभेदात्। तत्र धर्म्यशुक्लरूपं ध्यानमिह गृह्यते; नार्तरौद्ररूपं, तस्य दुर्गतिहेतुत्वेन तपोरूपतानुपपत्तेः।। विउसग्गो चेदि।। व्युत्सर्जनं। व्युत्सर्गश्च बाह्याभ्यंतरपरिग्रहत्याग इति। एवमुक्तप्रकारेणाभ्यंतरबाह्यं समुदितं।। बारसविहं।। द्वादशप्रकारं।। तवोकम्मं।। तपआचारः।। ण कदं।। न कृतं नानुष्ठितं। मया किंविशिष्टेन? णिसण्णेण।। परीषहादिभिः पीडितेन। किंतु ।। पडिक्कंतं।। निषण्णेन मया प्रतिक्रांतं परित्यक्तं।। तस्स मिच्छा मे दुक्कडे।। तस्य द्वादशविधतपआचारपरिहापनस्य संबंधिनि दुष्कृते मिथ्या विफलता मे भवतु।।

कायक्लेश और विविक्त शय्यासन ये छह भेद हैं तथा आभ्यन्तर तपाचार के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग छह भेद हैं। उक्त बारह प्रकार का तप कर्म परिषह आदिकों से पीड़ित होकर मैंने नहीं किया किन्तु परीषह आदि से पीड़ित होकर छोड़ दिया। उस बारह प्रकार के तपाचार के परिहापन सम्बन्धी मेरे दुष्कृत में विफलता होवे या मेरा दुष्कृत विफल होवे।।३।।

द्वादश तप

(षट्खण्डागम ग्रन्थ से)

जं तं तवोकम्मं णामे।।२५।।

तस्स अत्थपरूवणं कस्सामो —

तं सब्भंतरबाहिरं बारसविहं तं सव्वं तवोकम्मं णाम।।२६।।

तं तवोकम्मं बाहिरमब्भंतरेण सह बारसविहं। को तवो णाम ? तिण्णं रयणाण-माविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो। तत्थ चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालस-पक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छरेसु एसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो। किमेसणं ? असण-पाण-खादिय-सादियं। किमट्ठमेसो कीरदे ? पाणिंदियसंजमट्ठं, भुत्तीए उहयासंजमअवि-णाभावदंसणादो। ण च चउव्विहआहारपरिच्चागो चेव अणेसणं, रागादीहि सह तच्चागस्स अणेसणभावब्भुवगमादो। अत्र श्लोक :—

अप्रवृत्तस्य दोषेभ्यस्सहवासो गुणैः सह। उपवासस्स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम् ।।६॥

(षट्खण्डागम ग्रन्थ से)

अब तपःकर्म का अधिकार है।।२५।।

उसके अर्थ का खुलासा करते हैं—

वह आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से बारह प्रकार का है। वह सब तपःकर्म है।।२६।।

वह तपःकर्म बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का है।

शंका—तप किसे कहते हैं ?

समाधान—तीन रत्नों को प्रकट करने के लिए इच्छानिरोध को तप कहते हैं।

उसमें चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषण का ग्रहण करना तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषण का त्याग करना अनेषण नाम का तप है।

शंका—एषण किसे कहते हैं ?

समाधान—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, इनका नाम एषण है।

शंका—यह किसलिए किया जाता है ?

समाधान—यह प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम की सिद्धि के लिए किया जाता है क्योंकि भोजन के साथ दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव देखा जाता है।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि चारों प्रकार के आहार का त्याग ही अनेषण कहलाता है क्योंकि रागादिकों के त्याग के साथ ही उन चारों के त्याग को अनेषण रूप से स्वीकार किया है। इस विषय में एक श्लोक है—

---

१. षट्खण्डागम धवला टीका. पु. १३, पृ. ५४ से ८८ तक।

अद्धाहारणियमो अवमोदरियतवो। जो जस्स पयडिआहारो तत्तो ऊणाहार-विसयअभिग्गहो अवमोदरियमिदि भणिदं होदि। तत्थ ताव पयडिपुरिसित्थीणमाहार परूवणाए गाहा —

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरणो भणिदो।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला।।७।।

किं कवलपमाणं ? सालितंदुलसहस्से ट्ठिदे जं कूरपमाणं तं सव्वमेगो कवलो होदि। एसो पयडिपुरिसस्स कवलो परूविदो। एदेहि बत्तीसकवलेहि पयडिपुरिसस्स आहारो होदि, अट्ठावीसकवलेहि महिलियाए। इमं कवलमेदमाहारं च मोत्तूण जो जस्स पयडिकवलो पयडिआहारो सो च घेत्तव्वो। ण च सव्वेसिं कवलो आहारो वा

उपवास में प्रवृत्ति नहीं करने वाले जीव को अनेक दोष प्राप्त होते हैं और उपवास करने वाले को अनेक गुण, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। शरीर के शोषण करने को उपवास नहीं कहते ।।६।।

विशेषार्थ—बारह प्रकार के तपों में पहला अनशन तप है। यहाँ इसका नाम अनेषण दिया है। एषण का अर्थ खोज करना है। साधु बुभुक्षा की बाधा होने पर चार प्रकार के निर्दोष आहार की यथाविधि खोज करता है इसलिए इसका एषण यह नाम सार्थक है। एषणा समिति से भी यही अभिप्राय लिया गया है। अनशन यह नाम अशन नहीं करना, इस अर्थ में चरितार्थ है। इससे अनेषण इस नाम में मौलिक विशेषता है। एषण की इच्छा न होने पर साधु अनशन की प्रतिज्ञा करता है इसलिए अनेषण साधन है और अनशन उसका फल है। भोजनरूप क्रिया की व्यावृत्ति अनशन है और भोजन की इच्छा न होना अनेषण है। यहाँ 'अन् 'का अर्थ 'ईषत्' भी है। इससे यह अर्थ भी फलित होता है कि जो चार प्रकार के आहार में से एक, दो या तीन प्रकार के आहार का त्याग करते हैं उनके भी अनेषण तप माना जाता है।

आधे आहार का नियम करना अवमौदर्य तप है। जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहारविषयक अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करना अवमौदर्य तप है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उसमें प्रकृतिस्थ पुरुष और स्त्रियों के आहार का कथन करते समय यह गाथा आती है—

गाथार्थ—उदरपूर्ति के निमित्त पुरुष का बत्तीस ग्रास और महिला का अट्ठाईस ग्रास आहार कहा है।।७।।

शंका—एक ग्रास का क्या प्रमाण है ?

समाधान—शाली धान्य के एक हजार चावलों का जो भात बनता है वह सब एक ग्रास होता है।

अवट्ठिदो अत्थि, एगकुडवतंडुलकूरभुंजमाणपुरिसाणं एगगलत्थकूराहारपुरिसाणं च उवलंभादो। एवं कवलस्स वि अणवट्ठाणमुवलब्भदे। तम्हा अप्पप्पणो पयडिआहारादो ऊणाहारग्गहणणियमो ओमोदरिय तवो होदि त्ति सिद्धं। एसो तवो केहि कायव्वो ? पित्तप्पकोवेण उववासअक्खमेहि अद्धाहारेण उववासादो अहियपरिस्समेहि सगतवोमाहप्पेण भव्वजीवुवसमणवावदेहिं वा सगकुक्खिकिमिउप्पत्तिणिरोहकंखुएहिं वा अदिमत्ताहारभोयणेण वाहिवेयणाणिमित्तेण सज्झायभंगभीरुएहिं वा।

भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम। एदम्मि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंखाणं णाम तवो त्ति भणिदं होदि। एसा केहि कायव्वा ? सगतावोविसेसेण भव्वजणमुवसमेदूण सगरस-रुहिर-मांससोसणदुवारेण इंदियसंजममिच्छंतेहि साहूहि कायव्वा भायण-भोयणादिविसयरागादिपरिहरणचित्तेहि वा।

यह प्रकृतिस्थ पुरुष का ग्रास कहा है। ऐसे बत्तीस ग्रासों द्वारा प्रकृतिस्थ पुरुष का आहार होता है और अट्ठाईस ग्रासों द्वारा महिला का आहार होता है। प्रकृत में इस ग्रास और इस आहार का ग्रहण न कर जो जिसका प्राकृतिक ग्रास और प्राकृतिक आहार है वह लेना चाहिए। कारण कि सबका ग्रास और आहार अवस्थित एक समान नहीं होता क्योंकि कितने ही पुरुष एक कुडव प्रमाण चावलों के भात का और कितने ही पुरुष एक गलस्थ प्रमाण चावलों के भात का आहार करते हुए पाए जाते हैं। इसी प्रकार ग्रास भी अनवस्थित पाया जाता है इसलिए अपना-अपना जो प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार के ग्रहण करने का नियम अवमौदर्य तप होता है, यह बात सिद्ध होती है।

शंका—यह तप किन्हें करना चाहिए ?

समाधान—जो पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ हैं, जिन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान आती है, जो अपने तप के माहात्म्य से जीवों को उपशान्त करने में लगे हैं, जो अपने उदर में कृमि की उत्पत्ति का निरोध करना चाहते हैं और जो व्याधिजन्य वेदना के निमित्तभूत अतिमात्रा में भोजन कर लेने से स्वाध्याय के भंग होने का भय करते हैं, उन्हें यह अवमौदर्य तप करना चाहिए।

भोजन, भाजन, घर, वाट (मुहल्ला) और दाता, इनकी वृत्ति संज्ञा है। उस वृत्ति का परिसंख्यान अर्थात् ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है। इस वृत्तिपरिसंख्यान में प्रतिबद्ध जो अवग्रह अर्थात् परिमाण-नियंत्रण होता है वह वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तप है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका—यह किनको करना चाहिए ?

खीर-गुड-सप्पि-लवण-दधिआदओ सरीरिंदियरागादिवुड्ढणिमित्ता रसा णाम। तेसिं परिच्चाओ रसपरिच्चाओ। किमट्ठमेसो कीरदे ? पाणिंदियसंजमट्ठं। कुदो ? जिब्भिंदिए णिरुद्धे सयलिंदियाणं णिरोहुवलंभादो, सयलिंदिएसु णिरुद्धेसु चत्तपरिग्गहस्स णिरुद्धराग-दोसस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पंचसमिदिमंडियस्स वासी-चंदणसमाणस्स पाणासंजमणिरोहुवलंभादो।

रुक्खमूलब्भोकासादावणजोग-पलियंक-कुक्कुटासण-गोदोहद्धपलियंक-वीरासण-मदय-सयण-मयरमुह-हत्थिसोंडादीहि जं जीव दमणं सो कायकिलेसो। किमट्ठमेसो कीरदे ? सीद-वादादवेहि बहुदोववासेहि तिसा-छुहादिबाहाहि विसंठुलासणेहि य ज्झाण-परिचयट्ठं, अभावियसीदबाधादिउव वासादिबाहस्स मारणंतियअसादेण ओत्थ-अस्स ज्झाणाणुववत्तीदो।

त्थी-पसु-संढयादीहि ज्झाण-ज्झेयविग्घकारणेहि वज्जिय गिरिगुहा-कंदर-पब्भार-सुसाण-सुण्णहरारामुज्जाणाओ पदेसा विवित्तं णाम। तत्थ सयणासणाभिग्गहो विवि-

---

समाधान—जो अपने तपविशेष के द्वारा भव्यजनों को शान्त करके अपने रस, रुधिर और मांस के शोषण द्वारा इन्द्रियसंयम की इच्छा करते हैं उन साधुओं को करना चहिए अथवा जो भाजन और भोजनादिविषयक रागादि को दूर करना चाहते हैं उन्हें करना चाहिए।

शरीर और इन्द्रियों में रागादि वृद्धि के निमित्तभूत दूध, गुड़, घी, नमक और दही आदि रस कहलाते हैं। इनका त्याग करना रसपरित्याग तप है।

शंका—यह रस परित्याग तप किसलिए किया जाता है ?

समाधान—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम की प्राप्ति के लिए किया जाता है, क्योंकि जिह्वा इन्द्रिय का निरोध हो जाने पर इन्द्रियों का निरोध देखा जाता है और सब इन्द्रियों का निरोध हो जाने पर परिग्रह का त्याग कर राग-द्वेष का निरोध कर चुका है, जो त्रिगुप्तिगुप्त है, जो पाँच समितियों से मण्डित है और वसूला और चन्दन में समान बुद्धि रखता है उसके प्राणों के असंयम का निरोध देखा जाता है।

वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण प्रदेश में आकाश के नीचे आतापन योग, पल्यंकासन, कुक्कुटासन, गोदोहासन, अर्धपल्यंकासन, वीरासन, मृतकवत् शयन अर्थात् मृतकासन तथा मकर-मुख और हस्तिशुंडादि आसनों द्वारा जो जीव का दमन किया जाता है, वह कायक्लेश तप है।

शंका—यह किसलिए किया जाता है ?

समाधान—शीत, वात और आतप के द्वारा ; बहुत उपवासों द्वारा ; तृषा, क्षुधा आदि बाधाओं द्वारा और विसंस्थुल आसनों द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए किया

त्तसयणासणं णाम तवो होदि। किमट्ठमेसो कीरदे ? असब्भजणदंसणेण तस्सहवासेणय जणिदतिकालविसयराग-दोसपरिहरणट्ठं। अत्र श्लोक :—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्व।
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्।
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने।।८।।

एवमेसो छव्विहो बाहिरतवो परूविदो। कथमेदस्स बज्झसण्णा ? अप्पणो पुध-भूदेहि मिच्छाइट्ठीहि वि णव्वदि त्ति बज्झसण्णा।

संपहि छव्विहअब्भंतरतवसरूवनिरूवणं कस्सामो। तं जहा—कयावराहेण ससंवेयणिव्वेएण सगावराहणिरायरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तं पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं। अत्र श्लोक :—

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।९।।

जाता है, क्योंकि जिसने शीतबाधा आदि और उपवास आदि की बाधा का अभ्यास नहीं किया है और जो मारणान्तिक असाता से खिन्न हुआ है उसके ध्यान नहीं बन सकता।

ध्यान और ध्येय में विघ्न के कारणभूत स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित गिरि की गुफा, कन्दरा, पब्भार (गिरि-गुफा), श्मशान, शून्य घर, आराम और उद्यान आदि प्रदेश विविक्त कहलाते हैं। वहाँ शयन और आसन का नियम करना विविक्तशयनासन नाम का तप है।

शंका—यह विविक्त शयनासन तप किसलिए किया जाता है ?

समाधान—असभ्यजनों के देखने से और उनके सहवास से उत्पन्न हुए त्रिकालविषयक दोषों को दूर करने के लिए किया जाता है। इस विषय में श्लोक है—

(हे कुन्थु जिनेन्द्र !) आपने आध्यात्मिक तप को बढ़ाने के लिए अत्यन्त दुश्चर बाह्य तप का आचरण किया और प्रारम्भ के दो मलिन ध्यानों को छोड़कर अतिशय को प्राप्त उत्तर के दो ध्यानों में प्रवृत्ति की।।८।।

इस प्रकार यह छः प्रकार का बाह्य तप कहा।

शंका—इसकी 'बाह्य' संज्ञा किस कारण से है ?

समाधान—यह अपने से पृथग्भूत मिथ्यादृष्टियों के द्वारा भी जाना जाता है इसलिए इसकी 'बाह्य' संज्ञा है।

अत्र ग्राहके ग्राह्योपचाराच्चित्तग्राहकस्य कर्मणश्चित्तव्यपदेशः।

कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि तनूभवन्त्यात्मविगर्हणेन।
प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि।।१०।।

तं च पायच्छित्तमालोचणा-प्पडिक्कमण-उभय-विवेग-विउसग्ग-तव-च्छेद-मूल-परिहार-स्सहद्दहणभेदेण दसविहं। एत्थ गाहा—

अलोयण-पडिकमणे उभय-विवेगे तहा विउस्सग्गो।
तवछेदो मूलं पि य परिहारी चेव सद्दहणा।।११।।

गुरूणमपरिस्सवाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरु व्व थिराणं सगदोस-णिवेयणमालोयणा णाम पायच्छित्तं। गुरूणमालोचणाए विणा ससंवेग-णिव्वेयस्स पुणो ण करेमि त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं। एदं कत्थ होदि ? अप्पावराहे गुरूहि विणा वट्टमाणम्हि होदि। सगावराहं गुरूणमालोचिय गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं। एदं कत्थ होदि ? दुस्सुमिणदंसणादिसु। गण-गच्छ-दव्व-खेत्तादीहिंतो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं। एदं कत्थ होदि ? जम्हि संते अणियत्तदोसो सो तम्हि होदि। उववासादीहि सह

अब छह प्रकार के आभ्यन्तर तप के स्वरूप का कथन करते हैं। यथा—संवेग और निर्वेद से युक्त अपराध करने वाला साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है यह प्रायश्चित्त नाम का तपःकर्म है। इस विषय में श्लोक है—

प्रायः यह पद लोकवाची है और चित्त से अभिप्राय उसके मन का है इसलिए उस चित्त को ग्रहण करने वाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए।।९।।

यहाँ ग्राहक में ग्राह्य का उपचार करके चित्त-ग्राहक कर्म की 'चित्त' संज्ञा दी है।

अपनी गर्हा करने से, दोषों का प्रकाशन करने से और उनका संवर करने से किए गए अतिदारुण कर्म कृश हो जाते हैं। अब उनका समूल नाश कैसे हो जाता है, यह कहते हैं।।१०।।

वह प्रायश्चित्त आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार, और श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है। इस विषय में गाथा—

आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार, और श्रद्धान; ये प्रायश्चित्त के दस भेद हैं।।११।।

अपरिस्रव अर्थात् आस्रव से रहित, श्रुत के रहस्य को जानने वाले, वीतराग और रत्नत्रय में मेरु के समान स्थिर ऐसे गुरुओं के सामने अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना नाम का प्रायश्चित्त है। गुरुओं के सामने आलोचना किए बिना संवेग और

गच्छादिचागविहाण मेत्थेव णिवददि, उभयसद्दाणुवुत्तीदो। झाणेण सह कायमुज्झिदूण मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं विउस्सग्गो णाम पायच्छित्तं। एत्थ वि दुसंजोगादीहि भंगुप्पत्ती वत्तव्वा; उभयसद्दस्स देसामासियत्तादो। सो कस्स होदि ? कयावराहस्स णाणेण दिट्ठणवट्ठस्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्स ओघसूरस्स साहुस्स होदि। खवणायंबिल-णिव्वियडि-पुरिमंडलेयट्ठाणाणि तवो णाम। एत्थ दुसंजोगा जोजेयव्वा। एदं कस्स होदि ? तिव्विंदियस्स जोव्वणभरत्थस्स बलवंतस्स सत्तसहायस्स कयावराहस्स होदि।

दिवस-पक्ख-मास-उदु-अयण-संवच्छरादिपरियायं छेत्तूण इच्छिदपरियायादो हेट्ठिमभूमीए ठवणं छेदो णाम पायच्छित्तं। एदं कस्स होदि ? उववासादिखमस्स ओघबलस्स ओघसूरस्स गव्वियस्स कयावराहस्स साहुस्स होदि।

निर्वेद से युक्त साधु का 'फिर से कभी ऐसा न करूंगा' यह कहकर अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका—यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है ?

समाधान—जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हों, तब यह प्रायश्चित्त होता है।

अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु की साक्षीपूर्वक अपराध से निवृत्त होना उभय नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका—यह उभय प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है ?

समाधान—यह दुःस्वप्न देखने आदि अवसरों पर होता है।

गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से अलग करना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका—यह विवेक प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है ?

समाधान—जिस दोष के होने पर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोष के होने पर यह प्रायश्चित्त होता है।

उभय शब्द की अनुवृत्ति होने से उपवास आदि के साथ जो गच्छादि के त्याग का विधान किया जाता है उसका अन्तर्भाव इसी विवेक प्रायश्चित्त में हो जाता है।

काय का उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष और एक महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त है। यहाँ पर भी द्विसंयोग आदि की अपेक्षा भंगों की उत्पत्ति कहनी चाहिए क्योंकि उभय शब्द देशामर्शक है।

शंका—यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसके होता है ?

सव्वं परियायमवहारिय पुणो दीक्खणं मूल णाम पायच्छित्तं। एदं कस्स होदि ? अवरिमियअवराहस्स पासत्थोसण्ण-कुसील-सच्छंदादिउव्वट्ठट्ठियस्स होदि।

परिहारो दुविहो अणवट्ठओ परंचिओ चेदि। तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मासकालो उक्कस्सेण बारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कायविहारो पडिवंदणविरहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणायंबिलपुरिमड्ढेयट्ठाणणिव्विय-दीहि सोसिय-रस-रुहिर-मांसो होदि। जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि, किंतु साधम्मियवज्जियक्खेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासक्खवणं पि उवइट्ठं। एदाणि दो वि पायच्छित्ताणि णरिंदविरुद्धाचरिदे आइरियाणं णव-दसपुव्वहराणं होदि।

मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम-पयत्थसद्दहणा चेव सद्दहण पायच्छित्तं। णाण-दंसणचरित्त-तवोवयारभेएण विणओ पंचविहो। रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। एदेसिं विणयाणं लक्खणं सुगमं ति ण भण्णदे। एदं विणओ णाम तवोकम्मं।

समाधान—जिसने अपराध किया है किन्तु जो अपने विमल ज्ञान से नौ पदार्थों को समझता है, वज्र संहनन वाला है; शीतवात और आतप को सहन करने में समर्थ है तथा सामान्य रूप से शूर है ऐसे साधु के होता है।

उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति, पुरुमंडल और एकस्थान ये तप प्रायश्चित्त है। यही द्विसंयोगी अंगों की योजना कर लेनी चाहिए।

शंका—यह तप प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है ?

समाधान—जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान है, बलवान् है और सशक्त है, ऐसे अपराधी साधु को दिया जाता है।

एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष आदि तक की दीक्षा पर्याय का छेद कर इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना छेद नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका—यह छेद प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है ?

समाधान—जिसने अपराध किया है तथा जो उपवास आदि करने में समर्थ है, सब प्रकार से बलवान् है, सब प्रकार से शूर है और अभिमानी है, ऐसे साधु को दिया जाता है।

समस्त पर्याय का विच्छेद कर पुनः दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित्त है।

शंका—यह मूल प्रायश्चित्त किसे दिया जाता है ?

व्यापदि यत्क्रियते तद्वैयावृत्त्यम् । तं च वेज्जावच्चं दसविहं-आइरिय-उवज्झाय-साहु-तवस्सि-सिक्खुवगिलाण-कुल-गण-संघ-मणुण्णवेज्जावच्चं चेदि। तत्थ कुलं पंचविहं-पंचथूहकुलं गुहावासीकुलं सालमूलकुलं असोगवाडकुलं खंडकेसरकुलं। तिपुरिसओ गणो। तदुवरि गच्छो। आइरियादिगणपेरंताणं महल्लावईए णिवदिदाणं समूहस्स जं बाहावणयणं तं संघवेज्जावच्चं णाम। आइरियेहि सम्मदाणं गिहत्थाणं दिक्खाभिमुहाणं वा जं कीरदे तं मणुण्णवेज्जावच्चं णाम। एवमेदं सव्वं पि वेज्जावच्चं णाम तवोकम्मं।

अंगंगबाहिरआगमवायण-पुच्छणाणुपेहा-परियट्टण-धम्मकहाओ सज्झायो णाम। उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम् । एत्थ गाहा—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता।।१२।।

समाधान—अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्ग में स्थित है, उसे दिया जाता है।

परिहार दो प्रकार का है—अनवस्थाप्य और पारञ्चिक। उनमें से अनवस्थाप्य परिहार प्रायश्चित्त का जघन्य काल छः महीना और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह कायभूमि से दूर रहकर ही विहार करता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है, गुरु के सिवाय अन्य सब साधुओं के साथ मौन का नियम रखता है।

पारञ्चिक तप भी इसी प्रकार का होता है किन्तु इसे साधर्मी पुरुषों से रहित क्षेत्र में आचरण करना चाहिए। इसमें उत्कृष्ट रूप से छः मास के उपवास का भी उपदेश दिया गया है। ये दोनों ही प्रकार के प्रायश्चित्त राजा के विरुद्ध आचरण करने पर नौ और दस पूर्वों को धारण करने वाले आचार्य करते हैं।

मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित हुए जीव के महाव्रतों को स्वीकार कर आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करने पर श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त होता है।

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और उपचार के भेद से विनय पाँच प्रकार का है। रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना विनय है। इन विनयों का लक्षण सुगम है, इसलिए यहाँ नहीं कहते हैं। यह विनय नामक तपःकर्म है।

आपत्ति के समय उसके निवारणार्थ जो किया जाय वह वैयावृत्य नाम का तप है। आचार्य, उपाध्याय, साधु, तपस्वी, शैक्ष, उपग्लान, कुल, गण, संघ और मनोज्ञों की वैयावृत्य के भेद से वह वैयावृत्य तप दस प्रकार का है। उनमें कुल पाँच प्रकार का है—पञ्चस्तूप कुल, गुफावासी कुल, शालमूल कुल, अशोकवाट कुल और खण्डकेशर

तत्थ झाणे चत्तारि अहियारा होंति—ध्याता ध्येयं ध्यानं ध्यानफलमिति। तत्थ उत्तमसंघडणो ओघबलो ओघसूरो चोद्दसपुव्वहरो वा दस-णवपुव्वहरो वा, णाणेण विणा अणवगयणवपयत्थस्स झाणाणुववत्तीदो। जदि णवपयत्थविसयणाणेणेव ज्झाणस्स संभवो होइ तो चोद्दस-दस-णवपुव्वधरे मोत्तूण अण्णेसिं पि ज्झाणं किण्ण संपज्जदे, चोद्दस-दस-णवपुव्वेहि विणा थोवेण वि गंथेण णवपयत्थावगमोवलंभादो? ण, थोवेण गंथेण णिस्सेसमवगंतुं बीजबुद्धिमुणिणो मोत्तूण अण्णेसिमुवायाभावादो। जीवाजीव-पुण्ण-पाव-आसव-संवर-णिज्जरा-बंध-मोक्खेहि णवहि पयत्थेहि वदिरित्तमण्णं ण किं पि अत्थि, अणुवलंभादो। तम्हा ण थोवेण सुदेण एदे अवगंतुं सक्किज्जंते, विरोहादो। ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोवलिंगभूदस्स सुदत्त-विरोहादो। थोवदव्वसुदेण अवगयासेसणवपयत्थाणं

कुल। तीन पुरुषों के समुदाय को गण कहते हैं और इसके आगे गच्छ कहलाता है। महान् आपत्ति में पड़े हुए आचार्य से लेकर गणपर्यंत सर्व साधुओं के समूह की बाधा दूर करना संघवैयावृत्य नाम का तप है। जो आचार्यों द्वारा सम्मत हैं और जो दीक्षाभिमुख गृहस्थ हैं उनकी वैयावृत्य करना वह मनोज्ञवैयावृत्य नाम का तप है। इस प्रकार यह सब वैयावृत्य नाम का तप है।

अंग और अंगबाह्य आगम की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना और धर्मकथा करना स्वाध्याय नाम का तप है।

उत्तम संहनन वाले का एकाग्र होकर चिन्ता का निरोध करना ध्यान नाम का तप है। इस विषय में गाथा—

जो परिणामों की स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है और जो चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना है वह या तो भावना है या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है।।१२।।

ध्यान के विषय में चार अधिकार हैं—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। (१) जो उत्तम संहनन वाला, निसर्ग से बलशाली, निसर्ग से शूर, चौदह पूर्वों को धारण करने वाला या नौ, दस पूर्वों को धारण करने वाला होता है वह ध्याता है; क्योंकि इतना ज्ञान हुए बिना जिसने नौ पदार्थों को भले प्रकार नहीं जाना है उसके ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शंका—यदि नौ पदार्थविषयक ज्ञान से ही ध्यान की प्राप्ति सम्भव है तो चौदह, दस और नौ, पूर्वधारियों के सिवाय अन्य को वह ध्यान क्यों नहीं प्राप्त होता; क्योंकि चौदह, दस और नौ पूर्वों के बिना स्तोक ग्रन्थ से भी नौ पदार्थविषयक ज्ञान देखा जाता है।

सिवभूदिआदिबीजबुद्धीणं ज्झाणा-भावेण मोक्खाभावप्पसंगादो। थोवेण णाणेण जदि ज्झाणं होदि तो खवगसेडि-उवसम-सेडीणमप्पाओग्गधम्मज्झाणं चेव होदि। चोद्दस दस-णवपुव्वहरा पुण धम्म-सुक्कज्झाणाणं दोण्णं पि सामित्तमुवणमंति, अविरोहादो। तेण तेसिं चेव एत्थ णिद्देसो कदो।

सम्मइट्ठी—ण च णवपयत्थविसयरुइ-पच्चय-सद्धाहि विणा झाणं संभवदि, तप्पवुत्तिकारणसंवेग-णिव्वेयाणं अण्णत्थ असंभवादो। चत्तासेसबज्झंतरंगगंथो-खेत्त-वत्थु-धण-धण्ण-दुवय-चउप्पय-जाण-सयणासण-सिस्स-कुल-गण-संघेहि जणिदमि-च्छत्त-कोह-माण-माया-लोह-हस्स-रइ-अरइ-सोग-भय-दुगुंछा-त्थी-पुरिस-णवुंसयवे-दादिअंतरंगगंथकंखा परिवेढियस्स सुहज्झाणा-णुववत्तीदो। एत्थ गाहा—

ज्झाणिस्स लक्खणं से अज्जव-लहुअत्त-वुड्ढवुवएसा।
उवएसाणासुत्त णिस्सग्गगदाओ रुचियो से।।१३।।

विवित्तपासुअगिरि-गुहा-कंदर-पब्भार-सुसाण-आरामुज्जाणादिदेसत्थो-अण्णत्थ मणोविक्खेवहेदुवत्थु दंसणेण सुहज्झाणविणासप्पसंगादो। जहासुहत्थो-असुहासणे ट्ठियस्स पीडियंगस्स ज्झाणवाघादसंभवादो। एत्थ गाहा—

समाधान—नहीं, क्योंकि स्तोक ग्रन्थ से बीजबुद्धि मुनि ही पूरा जान सकते हैं, उनके सिवाय दूसरे मुनियों को जानने का अन्य कोई साधन नहीं है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ; इन नौ पदार्थों के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि इनके सिवाय अन्य कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता इसलिए स्तोक श्रुत से इनका ज्ञान करना शक्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है और द्रव्यश्रुत का यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि ज्ञान के उपलिंगभूत पुद्गल के विकारस्वरूप जड़ वस्तु को श्रुत मानने में विरोध आता है।

यदि कहा जाय कि स्तोक द्रव्यश्रुत से नौ पदार्थों को पूरी तरह जानकर शिवभूति आदि बीजबुद्धि मुनियों के ध्यान नहीं मानने से मोक्ष का अभाव प्राप्त होता है तो इस पर यह कहना है कि स्तोक ज्ञान से यदि ध्यान होता है तो वह क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी के अयोग्य धर्मध्यान ही होता है परन्तु चौदह, दस और नौ पूर्वों के धारी तो धर्म और शुक्ल दोनों ही ध्यानों के स्वामी होते हैं, क्योंकि ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं आता इसलिए उन्हीं का यहाँ निर्देश किया है।

(२) वह (ध्याता) सम्यग्दृष्टि होता है। कारण कि नौ पदार्थविषयक रुचि, प्रतीति और श्रद्धा बिना ध्यान की प्राप्ति के सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के मुख्य कारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते।

जच्चिय देहावत्था जया ण ज्झाणावरोहिणी होइ।
ज्झाएज्जो तदवत्थो ट्ठियो णिसण्णो वा।।१४।।

अणियदकालो—सव्वकालेसु सुहपरिणामसंभवादो। एत्थ गाहा—

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलादिलाहं पत्ता बहुसो खवियपावा।।१५।।
तो जत्थ समाहाणं होज्ज मणो-वयण-कायजोगाणं।
भूदोवधायरहिओ सो देसो ज्झायमाणस्स।।१६।।

---

(३) वह (ध्याता) समस्त बहिरंग और अन्तरंग परिग्रह का त्यागी होता है, क्योंकि जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आसन, शिष्य, कुल, गण और संघ के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद आदि अन्तरंग परिग्रह की कांक्षा से वेष्ठित है उसके शुभ ध्यान नहीं बन सकता। इस विषय में गाथा—

जिसकी उपदेश, जिनाज्ञा और जिनसूत्र के अनुसार आर्जव, लघुता और वृद्धत्व गुण से युक्त स्वभावगत रुचि होती है वह ध्यान करने वाले का लक्षण है।।१३।।

(४) वह (ध्याता) एकान्त और प्रासुक ऐसे पहाड़, गुफा, कन्दरा, पब्भार (गिरि-गुफा) श्मशान, आराम और उद्यान आदि देश में स्थित होता है, क्योंकि अन्यत्र मन के विक्षेप के हेतुभूत पदार्थ दिखाई देने से शुभ ध्यान के विनाश का प्रसंग आता है।

(५) वह (ध्याता) अपने सुखासन अर्थात् सहजसाध्य आसन से बैठता है, क्योंकि असुखासन से बैठने पर उसके अंग दुखने लगते हैं जिससे ध्यान में व्याघात होना सम्भव रहता है इस विषय में गाथा—

जैसी भी देह की अवस्था जिस समय ध्यान में बाधक नहीं होती उस अवस्था में रहते हुए खड़ा होकर या बैठकर कायोत्सर्गपूर्वक ध्यान करे।।१४।।

(६) उस (ध्याता) के ध्यान करने का कोई नियत काल नहीं होता, क्योंकि सर्वदा शुभ परिणामों का होना सम्भव है। इस विषय में गाथाएँ हैं—

सब देश, सब काल और सब अवस्थाओं में विद्यमान मुनि अनेकविध पापों का क्षय करके उत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त हुए।।१५।।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग का जहाँ समवधान हो और जो प्राणियों के उपघात से (अर्थात् एकाग्रता) रहित हो वही देश ध्यान करने वाले के लिए उचित है।।१६।।

णिच्चं विय-जुवइ-पसू-णवुंसय-कुसीलवज्जियं जइणो।
ट्ठाणं वियणं भणियं विसेसदो ज्झाणकालम्मि।।१७।।
थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गाममि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।१८।।
कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
ण उ दिवसणिसावेलादिणियमणं ज्झाइणो समए।।१९।।
तो देसकालचेट्ठाणियमो झाणस्स णत्थि समयम्मि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइयव्वं।।२०।।

सालंबणो—ण च आलंबणेण विणा ज्झाण-पासायारोहणं संभवइ, आलंबणभूद-णिस्सेणिआदीहि विणा पासादादिमारोहमाणपुरिसाणमणुवलंभादो। एत्थ गाहा—

आलंबणाणि वायण-पुच्छण-परियट्टणाणुपेहाओ।
सामाइयादियाइं सव्वं आवासयाइं च।।२१।।

जो स्थान श्वापद, स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशीलजनों से रहित हो और जो निर्जन हो; यतिजनों को विशेष रूप से ध्यान के समय ऐसा ही स्थान उचित माना है।।१७।।

परन्तु जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है और जिसका मन ध्यान में निश्चल है ऐसे मुनियों के लिए मनुष्यों से व्याप्त ग्राम में और शून्य जंगल में कोई अन्तर नहीं है।।१८।।

काल भी वही योग्य है जिसमें उत्तम रीति से योग का समाधान प्राप्त होता है। ध्यान करने वाले के लिए दिन, रात्रि और बेला आदि रूप से समय में किसी प्रकार का नियमन नहीं किया जा सकता।।१९।।

ध्यान के समय में देश, काल और चेष्टा का भी कोई नियम नहीं है। तत्त्वतः जिस तरह योगों का समाधान हो उस तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए।।२०।।

(७) वह (ध्याता) आलम्बनसहित होता है। आलम्बन के बिना ध्यानरूपी प्रासाद पर आरोहण करना सम्भव नहीं है, क्योंकि आलम्बनभूत नसैनी आदि के बिना पुरुषों का प्रासाद आदि पर आरोहण करना नहीं देखा जाता है। इस विषय में गाथा है—

वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और सामायिक आदि सब आवश्यक कार्य; ये सब ध्यान के आलम्बन हैं।।२१।।

विसम हि समारोहइ दिढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
सुत्तादिकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ।।२२।।

सुट्ठु त्तिरयणेसु भावियप्पा। ण च भावणाए विणा ज्झाणं संपज्जइ, एगवारेणेव बुद्धीए थिरत्ताणुववत्तीदो। एत्थ गाहा—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि ज्झाणस्स जोग्गदमुवेदि।
ताओ य णाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गजणियाओ।।२३।।
णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोवारणं विसुद्धिं च।
णाणगुण मुणियसारो तो ज्झायइ णिच्चमईओ।।२४।।
संकाइसल्लरहियो पसमत्थेयादिगुणगणोवईयो।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए ज्झाणम्मि।।२५।।
णवकम्माणादाणं पोराणवि णिज्जरा सुहादाणं।
चारित्तभावणाए ज्झाणमयत्तेण य समेइ।।२६।।

जिस प्रकार कोई पुरुष नसैनी आदि दृढ़ द्रव्य के आलम्बन से विषम भूमि पर भी आरोहण करता है उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदि के आलम्बन से उत्तम ध्यान को प्राप्त होता है।।२२।।

(८) वह (ध्याता) भले प्रकार रत्नत्रय की भावना करने वाला होता है। भावना के बिना ध्यान की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि केवल एक बार में ही बुद्धि में स्थिरता नहीं आती। इस विषय में गाथा है—

जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से उत्पन्न होती हैं।।२३।।

जिसने ज्ञान का निरन्तर अभ्यास किया है वह पुरुष ही मनोनिग्रह और विशुद्धि को प्राप्त होता है, क्योंकि जिसने ज्ञान गुण के बल से सारभूत वस्तु को जान लिया है वही निश्चलमति हो ध्यान करता है।।२४।।

जो शंका आदि शल्यों से रहित है और जो प्रशम तथा स्थैर्य आदि गुणगणों से उपचित है, वही दर्शनविशिुद्धि के बल से ध्यान में असंमूढ मन वाला होता है।।२५।।

चारित्र भावना के बल से जो ध्यान में लीन है उसके नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का आस्रव होता है।।२६।।

सुविदियजयस्सहावो णिस्संगो णिब्भयो णिरासो य।
वेरग्गभावियमणो ज्झाणम्मि सुणिच्चलो होइ।।२७।।

विसएहिंतो दिट्ठिंणिरुंधिऊण ज्झेये णिरुद्धचित्तो। कुदो ? विसएसु पसरंतदिट्ठिस्स थिरत्ताणुववत्तीदो। एत्थ गाहाओ—

किंचिद्दिट्ठिमुपावत्तइत्तु ज्झेये णिरुद्धदिट्ठीओ।
अप्पाणम्मि सदिं संधित्तुं संसारमोक्खट्ठं।।२८।।
पच्चाहरित्तु विसएहि इंदियाइं मणं च तेहिंतो।
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि।।२९।।

एवं ज्झायंतस्स लक्खणं परूविदं।

संपहि ज्झेयपरूवणं कीरदे—को ज्झाइज्जइ ? जिणो वीयरायो केवलणाणेण अवगयतिकालगोयराणंतपज्जाओवचियछद्दव्वो णवकेवललद्धिप्पहुडिअणंतगुणेहि आरद्धदिव्वदेहधरो अजरो अमरो अजोणिसंभवो अदज्झो अछेज्जो अवत्तो णिरंजणो णिरामओ अणवज्जो सयलकिलेसुम्मुक्को तोसवज्जियो वि सेवयजणकप्परुक्खो,

---

जिसने जगत् के स्वभाव को जान लिया है, जो निःसंग है, निर्भय है, सब प्रकार की आशाओं से रहित है और वैराग्य की भावना से जिसका मन ओत-प्रोत है वही ध्यान में निश्चल होता है।।२७।।

(९) वह (ध्याता) विषयों से दृष्टि को हटाकर ध्येय में चित्त को लगाने वाला होता है, क्योंकि जिसकी दृष्टि विषयों में फैलती है उसके स्थिरता नहीं बन सकती। इस विषय में गाथाएँ—

जिसकी दृष्टि ध्येय में रुकी हुई है वह बाह्य विषय से अपनी दृष्टि को कुछ क्षण के लिए हटाकर संसार से मुक्त होने के लिए अपनी स्मृति को अपने आत्मा में लगावे।।२८।।

इन्द्रियों को विषयों से हटाकर और मन को भी विषयों से दूर कर समाधिपूर्वक उस मन को अपनी आत्मा में लगावे।।२९।।

इस प्रकार ध्यान करने वाले का लक्षण कहा। अब ध्येय का कथन कहते हैं—

शंका—ध्यान करने योग्य कौन है ?

समाधान—जो वीतराग है, केवलज्ञान के द्वारा जिसने त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों से उपचित छः द्रव्यों को जान लिया है, नौ केवल लब्धि आदि अनन्त गुणों के साथ जो आरम्भ हुए दिव्य देह को धारण करता है, जो अजर है, अमर है, अयोनिसम्भव है, अदग्ध है, अछेद्य है, अव्यक्त है, निरंजन है, निरामय है, अनवद्य है, समस्त क्लेशों से रहित है, तोष गुण से रहित होकर भी सेवकजनों के लिए कल्पवृक्ष के समान है, रोष

रोस-वज्जिओ वि सगसमयपरम्मुहजीवाणं कयंतोवमो, सिद्धसज्झो जियजेयो संसार-सायरु-त्तिण्णो सुहामियसायरणिबुड्ढासेस करचरणो णिच्चओ णिरायुहभावेण जाणावि-यपडिवक्खाभावो सव्वलक्खणसंपुण्णदप्पणसंकंतमाणुसच्छायागारो संतो वि सयल-माणुसपहावुत्तिण्णो अव्वओ अक्खओ।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा।
सिद्धाष्टगुणसंयुक्ता गुणाः द्वादशधाः स्मृताः।।३०।।

बारसगुणकलियो। एत्थ गाहा—

अकसायमवेदत्तं अकारयत्तं विदेहदा चेव।
अचलत्तमलेपत्तं च होंति अच्चंतियाइं से ।।३१।।

सगसरूवे दिण्णचित्तजीवाणमसेसपावपणासओ जिणउवइट्ठवपयत्था वा ज्झेयं होंति। कधं ते णिग्गुणा कम्मक्खयकारिणो ? ण, तेसिं रागादिणिरोहे णिमित्तकारणाणं तदविरोहादो। उत्तं च—

से रहित होकर भी आत्मधर्म से पराङ्मुख हुए जीवों के लिए यम के समान है, जिसने साध्य की सिद्धि कर ली है। जो जितजेय है, संसार सागर से उत्तीर्ण है, जिसके हाथ-पैर सुखामृत-सागर में पूरी तरह से डूबे हुए हैं, नित्य है, निरायुध होने से जिसने 'उसका कोई प्रतिपक्षी नहीं है' इस बात को जताया है, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है अतएव दर्पण में संक्रान्त हुई मनुष्य की छाया के समान होकर भी समस्त मनुष्यों के प्रभाव से परे है, अव्यक्त है, अक्षय है।

सिद्धों के आठ गुण होते हैं। उनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार गुण मिलाने पर बारह गुण माने गए हैं।।३०।।

इस प्रकार जो बारह गुणों से विभूषित है। इस विषय में गाथा—

अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व; ये सिद्धों के आत्यन्तिक गुण होते हैं।।३१।।

जिन जीवों ने अपने स्वरूप में चित्त लगाया है उनके समस्त पापों का नाश करने वाला ऐसा जिनदेव ध्यान करने योग्य है अथवा जिन द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य हैं।

शंका—जबकि नौ पदार्थ निर्गुण होते हैं अर्थात् अतिशयरहित होते हैं ऐसी हालत में वे कर्मक्षय के कर्ता कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वे रागादिक के निरोध करने में निमित्त कारण हैं इसलिए उन्हें कर्मक्षय का निमित्त मानने में कोई विरोध नहीं आता। कहा भी है—

आलंबणेहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
जं जं मणसा पेच्छइ तं तं आलंबणं होइ।।३२।।

बारसअणुपेक्खाओ उवसमसेडि-खवगसेडिचडणविहाणं तेवीसवग्गणाओ पंच-परियट्टाणि ट्ठिदि-अणुभाग-पयडि-पदेसादि सव्वं पि ज्झेयं होदि त्ति दट्ठव्वं। एवं ज्झेयपरूवणा गदा।

झाणं दुविहं—धम्मज्झाणं सुक्कज्झाणमिदि। तत्थ धम्मज्झाणं ज्झेयभेदेण चउ-व्विहं होदि-आणाविचओ अपायविचओ विवागविचओ संठाणविचओ चेदि। तत्थ आणा णाम आगमो सिद्धंतो जिणवयणमिदि एयट्ठो। एत्थ गाहाओ—

सुणिउणमणाइणिहणं भूदहिदं भूदभावणमणग्घं।
अमिदमजिदं महत्थं महाणुभावं महाविसयं।।३३।।
ज्झाएज्जो णिरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं।
अणिउणजणदुण्णेयं णयभंगपमाणगमगहणं।।३४।।

यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्यान में मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है।।३२।।

बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरोहणविधि, तेईस वर्गणाएँ, पाँच परिवर्तन, स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश आदि ये सब ध्यान करने योग्य अर्थात् ध्येय होते हैं ; ऐसा यहाँ जानना चाहिए। इस प्रकार ध्येय का कथन समाप्त हुआ।

ध्यान दो प्रकार का है—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उनमें से धर्मध्यान ध्येय के भेद से चार प्रकार का है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। यहाँ पर आज्ञा से आगम, सिद्धान्त और जिनवचन लिए गए हैं क्योंकि ये एकार्थवाची शब्द हैं। इस विषय में गाथाएँ हैं—

जो सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है, अजित है, महान अर्थ वाली है, महानुभाव है, महान् विषय वाली है, निरवद्य है, अनिपुणजनों के लिए दुर्ज्ञेय है और नयभंगों तथा प्रमाणागम से गहन है; ऐसी जग के प्रदीपस्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए।।३३-३४।।

यह आज्ञा है। इस आज्ञा के बल से प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणागम के विषयभूत पदार्थों का जो ध्यान किया जाता है वह आज्ञाविचय नाम का ध्यान है। इस विषय में गाथाएँ—

एसा आणा। एदीए-आणाए पच्चक्खाणुमाणादिपमाणाणमगोयरत्थाणं जं ज्झाणं सो आणाविचओ णामज्झाणं। एत्थ गाहाओ—

तत्थ मइदुब्बलेण य तव्विज्जाइरियविरहदो वा वि।
णेयगहणत्तणेण य णाणावरणादिएणं च।।३५।।
हेदूदाहरणासंभवे य सरि-सुट्ठुज्जाणबुज्झेज्जो।
सव्वणुमयमवितत्थं तहाविहं चिंतए मदिमं।।३६।।
अणुवगयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जयप्पवरा।
जियरायदोसमोहा ण अण्णहावाइणो तेण।।३७।।
पंचत्थिकायछज्जीवकाइए कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि।।३८।।

मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदकम्मसमुप्पण्णजाइ-जरा-मरणवेयणाणुसरणं तेहिंतो अवायचिंतणं च अवायविचयं णाम धम्मज्झाणं। एत्थ गाहाओ—

रागद्दोसकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाणं।
इहपरलोगावाए ज्झाएज्जो वज्जपरिवज्जी।।३९।।

मति की दुर्बलता होने से, अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता होने से और हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होने से नदी और सुखोद्यान आदि चिन्तवन करने योग्य स्थान में मतिमान् ध्याता 'सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है' ऐसा चिन्तवन करे।।३५-३६।।

यतः जग में श्रेष्ठ जिन भगवान् जो उनको नहीं प्राप्त हुए ऐसे अन्य जीवों का भी अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं और उन्होंने राग, द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त कर ली है ; इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हो सकते।।३७।।

पाँच अस्तिकाय, छः जीवनिकाय, काल द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञाग्राह्य अन्य जितने पदार्थ हैं उनका यह आज्ञाविचय ध्यान के द्वारा चिन्तवन करता है।।३८।।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों के निमित्त से कर्म उत्पन्न होते हैं और कर्मों के निमित्त से जाति,जरा, मरण और वेदना उत्पन्न होते हैं ; ऐसा चिन्तवन करना और उनसे अपाय का चिन्तन करना अपायविचय नाम का धर्मध्यान है। इस विषय में गाथाएँ हैं—

पाप का त्याग करने वाला साधु राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में विद्यमान जीवों के इहलोक ओर परलोक से अपाय का चिन्तवन करे।।३९।।

कल्लाणपावए जे उवाए विचिणादि-जिणमयमुवेच्च।
विचिणादि वा अवाए जीवाणं जे सुहा असुहा।।४०।।

कम्माणं सुहासुहाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसभेएण चउव्विहाणं विवागाणुसरणं विवागविचयं णाम तदियधम्मज्झाणं। एत्थ गाहाओ—

पयडिट्ठिदिप्पदेसाणुभागभिण्णं सुहासुहविहत्तं।
जोगाणुभागजणियै कम्मविवागं विचिंतेज्जो।।४१।।
एगाणेगभवगयं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादी।।४२।।

तिण्णं लोगाणं संठाण-पमाणाउयादिचिंतणं संठाणविचयं णाम चउत्थं धम्मज्झाणं। एत्थ गाहाओ—

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणाइं।
उप्पाद-ट्ठिदिभंगादिपज्जया जे य दव्वाणं।।४३।।

अथवा जिनमत को प्राप्त कर कल्याण करने वाले जो उपाय हैं उनका चिन्तवन करता है। अथवा जीवों के जो शुभाशुभ भाव होते हैं उनसे अपाय का चिन्तवन करता है।।४०।।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार के शुभाशुभ कर्मों के विपाक का चिन्तवन करना विपाकविचय नाम का तीसरा धर्मध्यान है। इस विषय में गाथाएँ—

जो प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग इन चार भागों में विभक्त है, जो शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है तथा जो योग और अनुभाग अर्थात् कषाय से उत्पन्न हुआ है ऐसे कर्म के विपाक का चिन्तवन करे।।४१।।

जीवों को जो एक और अनेक भव में पुण्य और पाप कर्म का फल प्राप्त होता है उसका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्ष का चिन्तवन करता है।।४२।।

तीनों लोकों के संस्थान, प्रमाण और आयु आदि का चिन्तवन करना संस्थानविचय नाम का चौथा धर्म्यध्यान है। इस विषय में गाथाएँ—

जिनदेव के द्वारा कहे गए छः द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, रहने का स्थान, भेद, प्रमाण तथा उनकी उत्पाद, स्थिति और व्यय आदि रूप पर्यायों का; पाँच अस्तिकायमय, अनादिनिधन, नामादि अनेक भेदरूप और अधोलोक आदि भाग रूप से तीन प्रकार के लोक का; तथा पृथ्वीवलय, द्वीप, सागर, नगर, विमान, भवन आदि के संस्थान का; एवं आकाश में प्रतिष्ठान, नियत और लोकस्थिति आदि भेद का चिन्तवन करे।।४३-४५।।

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खादं।
णामादिभेयविहियं तिविहमहोलोगभागादिं।।४४।।
खिदिवलयदीवसायरणयरविमाण भवणादिसंठाणं।
वोमादिपडिट्ठाणं णियययं लोगट्ठिदिविहाणं।।४५।।
उवजोगलक्खणमणाइणिहणमत्थंतरं सरीदादो।
जीवमरूविं कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स।।४६।।
तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं।
वसणसयसावमीणं मोहावत्तं महाभीमं।।४७।।
णाणमयकण्णहारं वरचारित्तमयमहापोयं।
संसारसागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जो।।४८।।
किं बहुसो सव्वं चि य जीवादिपयत्थवित्थरो वेयं।
सव्वणयसमूहमयं ज्झायज्जो समयसब्भावं।।४९।।
ज्झाणोवरमे वि मुणी णिच्चमणिच्चादिचिंतणापरमो।
होई सुभावियचित्तो धम्मज्झाणे जिह व पुव्वं।।५०।।

जीव उपयोग लक्षण वाला है, अनादिनिधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है तथा अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। ऐसे उस जीव के कर्म से उत्पन्न हुआ जन्म मरण आदि यही जल है, कषाय यही पाताल है, सैकड़ों व्यसनरूपी छोटे मत्स्य हैं, मोहरूपी आवर्त है और अत्यन्त भयंकर है, ज्ञानरूपी कर्णधार है और उत्कृष्ट चारित्रमय महापोत है। ऐसे इस अशुभ और अनादि अनन्त संसार का चिन्तवन करे।।४६-४८।।

बहुत कहने से क्या लाभ, यह जितना जीवादि पदार्थों का विस्तार कहा है उस सबसे युक्त और सर्व नयसमूहमय समयसद्भाव का ध्यान करे।।४९।।

ऐसा ध्यान करके उसके अन्त में मुनि निरन्तर अनित्य आदि भावनाओं के चिन्तवन में तत्पर होता है। जिससे वह पहले के समान धर्म्यध्यान में सुभावितचित्त होता है।।५०।।

शंका—यदि समस्त समयसद्भाव धर्म्यध्यान का ही विषय है तो शुक्लध्यान का कोई विषय शेष नहीं रहता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

शंका—यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यानों में एकत्व अर्थात् अभेद प्राप्त होता है क्योंकि दंशमशक, सिंह, भेड़िया, व्याघ्र, श्वापद और भल्ल (रीछ) द्वारा भक्षण किया

जदि सव्वो समयसब्भावो धम्मज्झाणस्सेव विसओ होदि तो सुक्कज्झाणेण णिव्वि-सएण होदव्वमिदि ? ण एस दोसो, दोण्णं पि ज्झाणाणं विसयं पडि भेदाभावादो। जदि एवं तो दोण्णं ज्झाणाणमेयत्तं पसज्जदे। कुदो ? दंसमसय-सीह-वय-वग्घ-तरच्छच्छहल्लेहि खज्जंतो वि वासीए तच्छिज्जंतो वि करवत्तेहि फाडिज्जंतो वि दावाणलसिहामुहेण कवलिज्जंतो वि सीदवादादवेहि बाहिज्जंतो अच्छरसयकोडीहि लालिज्जंतओ वि जिस्से अवत्थाए ज्झेयादो ण चलदि सा जीवावत्था ज्झाणं णाम। एसो वि त्थिर-भावो उभयत्थ सरिसो, अण्णहा ज्झाणभावाणुववत्तीदो त्ति ? एत्थ परिहारो वुच्चदे-सच्चं, एदेहि दोहि वि सरूवेहि दोण्णं ज्झाणाणं भेदाभावादो। किंतु धम्मज्झाणमेयव-त्थुम्हि थोवकालावट्ठाइ। कुदो ? सकसायपरिणामस्स गब्भहरंतट्ठिद-पईवस्सेव चिरकालमवट्ठाणाभावादो। धम्मज्झाणं सकसाएसु चेव होदि त्ति कधं णव्वदे ? असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो। सुक्कज्झाणस्स पुण एक्कम्हि वत्थुम्हि धम्मज्झाणावट्ठाणकालादो

गया भी; वसूला द्वारा छीला गया भी, करोंतों द्वारा फाड़ा गया भी, दावानल के शिखा-मुख द्वारा ग्रसा गया भी; शीत, वात और आतप द्वारा बाधा गया भी; और सैकड़ों करोड़ अप्सराओं द्वारा ललित किया गया भी जो जिस अवस्था में ध्येय से चलायमान नहीं होता वह जीव की अवस्था ध्यान कहलाती है। इस प्रकार का यह स्थिर भाव दोनों ध्यानों में समान है अन्यथा ध्यानरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

समाधान—यहाँ इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह बात सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा दोनों ही ध्यानों में कोई भेद नहीं है किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्म्यध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है क्योंकि कषायसहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता।

शंका—धर्म्यध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक और उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक और उपशामक अनिवृत्तिकरणसंयत तथा क्षपक और उपशामक सूक्ष्मसाम्परायसंयत जीवों के धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति होती है ; ऐसा जिनदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि धर्म्यध्यान कषायसहित जीवों के होता है।

संखेज्जगुणकालमवट्ठाणं होदि, वीयराय-परिणामस्स मणिसिहाए व बहुएण वि कालेण संचालाभावादो। उवसंतकसायज्झाणस्स पुधत्तविदक्कवीयारस्स अंतोमुहुत्तं चेव अवट्ठाणमुवलब्भदि त्ति चे—ण एस दोसो, वीयरायत्ताभावेण तव्विणासुववत्तीदो। अत्थदो अत्थंतरसंचालो उवसंतकसायज्झाणस्स उवलब्भदि त्ति चे—ण, अत्थंतरसंचाले संजादे वि चित्तंतरगमणाभावेण ज्झाणविणासाभावादो। वीयरायत्ते संते वि खीणकसायज्झाणस्स एयत्तवियक्कावीचारस्स विणासो दिस्सदि त्ति चे—ण, आवरणाभावेण असेसदव्वपज्जाएसु उवजुत्तस्स केवलोवजोगस्स एगदव्वम्हि पज्जाए वा अवट्ठाणाभावं दट्ठूण तज्झाणाभावस्स परूवित्तादो। तदो सकसायाकसायसामिभेदेण अचिरकाल-चिरकालावट्ठाणेण ण दोण्णं ज्झाणाणं सिद्धो भेओ। सकसायतिण्णि-गुणट्ठाणकालादो उवसंतकसायकालो संखेज्जगुणहीणो, तदो वीयरायज्झाणावट्ठा-णकालो संखेज्जगुणो त्ति ण घडदे ? ण, एगवत्थुम्हि अवट्ठाणं पडुच्च तदुत्तीए। एत्थ गाहाओ—

परन्तु शुक्लध्यान के एक पदार्थ में स्थित रहने का काल धर्मध्यान के अवस्थानकाल से संख्यातगुणा है, क्योंकि वीतराग परिणाम मणि की शिखा के समान बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता।

शंका—उपशान्तकषाय गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का अवस्थान अन्तर्मुहूर्त काल ही पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अर्थान्तर में गमन होने पर भी एक विचार से दूसरे विचार में गमन नहीं होने से ध्यान का विनाश नहीं होता।

शंका—वीतरागता के रहते हुए भी क्षीणकषाय में होने वाले एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान का विनाश देखा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आवरण का अभाव होने से केवली जिनका उपयोग अशेष द्रव्यपर्यायों में उपयुक्त होने लगता है, इसलिए एक द्रव्य में या एक पर्याय में अवस्थान का अभाव देखकर उस ध्यान का अभाव कहा है।

इसलिए सकषाय और अकषाय रूप स्वामी के भेद से तथा अचिरकाल और चिरकाल तक अवस्थित रहने के कारण इन दोनों ध्यानों का भेद सिद्ध है।

शंका—कषायसहित तीन गुणस्थानों के काल से चूंकि उपशान्तकषाय का काल संख्यातगुणा हीन है इसलिए वीतरागध्यान का अवस्थानकाल संख्यातगुणा है ; यह बात नहीं बनती ?

अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु।।५१।।
अंतोमुहुत्तपरदो चिंता-ज्झाणंतरं व होज्जाहि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थुसंकमे ज्झाणसंताणो।।५२।।

एदम्हि धम्मज्झाणे पीय-पउम-सुक्कलेस्साओ तिण्णि चेव होंति, मंद-मंदयर-मंदतमकसाएसु एदस्स ज्झाणस्स संभवुवलंभादो। एत्थ गाहा—

होंति कमविसुद्धाओ लेस्साओ पीय-पउम-सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदादिभेयाओ।।५३।।

एसो धम्मज्झाणे परिणमदि त्ति कधं णव्वदे ? जिण-साहुगुणपसंसण-विणय-दाण-संपत्तीए। एत्थ गाहाओ—

आगमउवदेसाणा णिसग्गदो जं जिणप्पणीयाणं।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तल्लिंगं।।५४।।

समाधान—नहीं, क्योंकि एक पदार्थ में कितने काल तक अवस्थान होता है, इस बात को देखकर उक्त बात कही है। इस विषय में गाथाएँ—

एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चिन्ता का अवस्थान होना छद्मस्थों का ध्यान है और योगनिरोध जिन भगवान् का ध्यान है।।५१।।

अन्तर्मुहूर्त के बाद चिन्तान्तर या ध्यानान्तर होता है या चिरकाल तक बहुत पदार्थों का संक्रम होने पर भी एक ही ध्यानसन्तान होती है।।५२।।

इस धर्मध्यान में पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन ही लेश्याएँ होती हैं, क्योंकि कषायों के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होने पर धर्मध्यान की प्राप्ति सम्भव है। इस विषय में गाथा—

धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र-मन्द आदि भेदों को लिए हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं।।५३।।

शंका—यह धर्मध्यान में परिणमता है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—जिन और साधु के गुणों की प्रशंसा करना, विनय करना और दान सम्पत्ति से जाना जाता है। इस विषय में गाथाएँ हैं—

आगम, उपदेश और जिनाज्ञा के अनुसार निसर्ग से जो जिन भगवान् के द्वारा कहे गए पदार्थों का श्रद्धान होता है वह धर्मध्यान का लिंग है।।५४।।

जिण-साहुगुणुक्कित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णा।
सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा।।५५।।

किंफलमेदं धम्मज्झाणं ? अक्खवएसु विउलामरसुहफलं गुणसेडीए कम्मणिज्जराफलं च। खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेडीए कम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाणफलं च। अतएव धर्म्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमिति सिद्धम्। एत्थ गाहाओ—

होंति सुहासव-संवर णिज्जरामरसुहाइं विउलाइं।
ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स।।५६।।
जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति।।५७।।

एवं धम्मज्झाणस्स परूवणा गदा।

संपहि सुक्कज्झाणस्स परूवणं कस्सामो। तं जहा—कुदो एदस्स सुक्कत्तं ? कसायमलाभावादो। तं च चउव्विहं—पुधत्तविदक्कवीचारं एयत्तविदक्कअवीचारं सुहुमकिरियमप्पडिवादि समुच्छिण्णकिरियमप्पडिवादि चेदि। तत्थ पढमसुक्कज्झाण-

---

जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयम में रत होना, ये सब बातें धर्मध्यान में होती हैं ; ऐसा जानना चाहिए।।५५।।

शंका—इस धर्मध्यान का क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवों को देवपर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुणश्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है ; तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनपेत है वह धर्मध्यान है, यह बात सिद्ध होती है। इस विषय में गाथाएँ—

उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख ; ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं।।५६।।

अथवा, जैसे मेघपटल पवन से ताडित होकर क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यानरूपी पवन से उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते हैं।।५७।।

इस प्रकार धर्मध्यान का कथन समाप्त हुआ। अब शुक्लध्यान का कथन करते हैं। यथा—

शंका—इसे शुक्लपना किस कारण से प्राप्त है ?

समाधान—कषाय मल का अभाव होने से।

लक्खणं वुच्चदे-पृथक्त्वं भेदः। वितर्कः श्रुतं द्वादशांगम्। वीचारः संक्रान्तिः अर्थ-व्यंजन-योगेषु। पृथक्त्वेन भेदेन वितर्कस्य श्रुतस्य वीचारः संक्रान्तिः यस्मिन् ध्याने तत्पृथक्त्ववितर्कवीचारम्। एत्थ गाहाओ—

दव्वाइमणेगाइं तीहि वि जोगेहि जेण ज्झायंति।
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं ति तं भणिदं।।५८।।
जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य।
ज्झायदि ज्झाणं एदं सविदक्कं तेण तं ज्झाणं।।५९।।
अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो।
तस्स त भावेण तगं सुत्ते उत्तं सवीचारं।।६०।।

एदस्स भावत्थो उच्चदे—उवसंतकसायवीयरायछदुमत्थो चोद्दस-दस-णवपुव्वहरो पसत्थतिविहसंघडणो कसाय-कलंकुत्तिण्णो तिसु जोगेसु एगजोगम्हि वट्टमाणो एगदव्वं गुणपज्जायं वा पढमसमए बहुणयगहणणिलीणं सुद-रविकिरणुज्जोयबलेण ज्झाएदि। एवं तं चेव अंतोमुहुत्तमेत्तकालं ज्झाएदि। तदो परदो अत्थंतरस्स णियमा संकमदि। अधवा तम्हि चेव अत्थे गुणस्स पज्जायस्स वा संकमदि। पुव्विल्लजोगादो जोगंतरं पि

वह चार प्रकार का है—पृथक्त्ववितर्क-वीचार, एकत्ववितर्क-अवीचार, सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती। उनमें से प्रथम शुक्लध्यान का लक्षण कहते हैं—पृथक्त्व का अर्थ भेद है, वितर्क का अर्थ द्वादशांग श्रुत है ; और वीचार से मतलब अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति है। पृथक्त्व अर्थात् भेदरूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार अर्थात् संक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह पृथक्त्ववितर्क-वीचार नाम का ध्यान है। इस विषय में गाथाएँ—

यतः उपशान्तमोह जीव अनेक द्रव्यों का तीनों ही योगों के आलम्बन से ध्यान करते हैं इसलिए उसे पृथक्त्व ऐसा कहा है।।५८।।

यतः वितर्क का अर्थ श्रुत है और यतः पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु ही इस ध्यान को ध्याते हैं, इसलिए उस ध्यान को सवितर्क कहा है।।५९।।

अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रम वीचार है। जो ऐस संक्रम से युक्त होता है उसे सूत्र में सवीचार कहा है।।६०।।

इसका भावार्थ कहते हैं—चौदह, दस और नौ पूर्वों का धारी, प्रशस्त तीन संहनन वाला, कषाय-कलंक से पार को प्राप्त हुआ और तीन योगों में से किसी एक योग में विद्यमान ऐसा उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ जीव बहुत नयरूपी वन में लीन हुए ऐसे एक द्रव्य या गुण-पर्याय को श्रुतरूपी रविकिरण के प्रकाश के बल से ध्याता है। इस

सिया संकमदि। एगमत्थमत्थंतर गुणगुणंतरं पज्जायपज्जायंतरं च हेट्ठोवरि ट्ठविय पुणो तिण्णि जोगे एगपंतीए ठविय

द	गु	प	म	व	का
द	गु	प			

दुसंजोग-तिसंजोगेहि एत्थ पुधत्तविद-क्कवीचारज्झाणभंगा बादालीस।४२। उप्पाएदव्वा। एवमंतोमुहुत्त—कालमुवसंतकसाओ सुक्कलेस्सिओ पुधत्तविदक्क-वीचारज्झाणं छदव्व-णवपयत्थवि-सयमंतोमुहुत्तकालं ज्झायइ। अत्थदो अत्थंतरसंकमे संते वि ण ज्झाणविणासो, चित्तंतरगमणाभावादो। एवं संवर-णिज्जरामरसुहफलं, एदम्हादो णिव्वुइगमणाणुव-लंभादो। एवं पुधत्तविदक्कवीचारज्झाणपरूवणा गदा।

संपहि बिदियसुक्कज्झाणपरूवणं कस्सामो—एकस्य भावः एकत्वम्, वितर्को द्वादशांगम्, असंक्रांतिरवीचारः ; एकत्वेन वितर्कस्य अर्थ-व्यंजन-योगानामवीचारः असंक्रांतिः यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्का। वीचारं ध्यानम्। एत्थ गाहाओ—

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेक्केण अण्णदरएण।
खीणकसाओ ज्झायइ तेणेयत्तं तगं भणिदं।।६१।।

प्रकार उसी पदार्थ को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। इसके बाद अर्थान्तर पर नियम से संक्रमित होता है अथवा उसी अर्थ के गुण या पर्याय पर संक्रमित होता है और पूर्व योग से स्यात् योगान्तर पर संक्रमित होता है इस तरह एक अर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यायान्तर को नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगों को एक पंक्ति में स्थापित करके द्विसंयोग और त्रिसंयोग की अपेक्षा यहाँ पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान के ४२ भंग उत्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक शुक्ललेश्या वाला उपशान्तकषाय जीव छः द्रव्य और नौ पदार्थविषयक पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रम होने पर भी ध्यान का विनाश नहीं होता क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नहीं होता। इस प्रकार इस ध्यान के फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमरसुख प्राप्त होता है क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का कथन समाप्त हुआ।

अब द्वितीय शुक्लध्यान का कथन करते हैं—एक का भाव एकत्व है, वितर्क द्वादशांग को कहते हैं और अवीचार का अर्थ असंक्रान्ति है। अभेदरूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ, व्यंजन और योगों का अवीचार अर्थात् असंक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान है। इस विषय में गाथाएँ—

यतः क्षीणकषाय जीव एक ही द्रव्य का किसी एक योग के द्वारा ध्यान करता है इसलिए उस ध्यान को एकत्व कहा है।।६१।।

जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य।
ज्झायदि झाणं एदं सविदक्कं तेण तज्झाणं।।६२।।
अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो।
तस्स अभावेण तगं ज्झाणमवीचारमिदि वुत्तं।।६३।।

एदस्स भावत्थो—खीणकसाओ सुक्कलेस्सिओ ओघबलो ओघसूरो वज्जरिसहवइ-रणारायणसरीरसंघडणो अण्णदरसंठाणो चोद्दसपुव्वहरो दसपुव्वहरो णवपुव्वहरो वा खइयसम्माइट्ठी खविदासेसकसायवग्गो णवपयत्थेसु एगपयत्थं दव्व-गुण-पज्जयभेदेण ज्झाएदि, अण्णदरजोगेण अण्णदराभिधाणेण य तत्थ एगम्हि दव्वे गुणे पज्जाए वा मेरुमहियरो व्व णिच्चलभावेण अवट्ठियचित्तस्स असंखेज्जगुणसेडीए कम्मक्खंधे गालयंतस्स अणंतगुणहीणाए सेडीए कम्माणुभागं सोसयंतस्स कम्माणं ट्ठिदीयो एगजोग-एगाभिहाण-ज्झाणेण घादयंतस्स अंतोमुहुत्तमेत्तकालो गच्छदि। तदो सेसखीणकसायद्ध-मेत्तट्ठिदीयो मोत्तूण उवरिमसव्वट्ठिदीयो घेत्तूण उदयादिगुणसेडि-

---

यतः वितर्क का अर्थ श्रुत है और जिसलिए पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु इस ध्यान को ध्याता है, इसलिए इस ध्यान को सवितर्क कहा है।।६२।।

अर्थ, व्यंजन और योगों के संक्रम का नाम वीचार है। यतः उस वीचार के अभाव से यह ध्यान होता है इसलिए इसे अवीचार कहा है।।६३।।

इसका यह आशय है—जिसके शुक्ल लेश्या है, जो निसर्ग से बलशाली है, निसर्ग से शूर है, वज्रवृषभवज्रनाराचसंहनन का धारी है, किसी एक संस्थान वाला है, चौदह पूर्वधारी है, दस पूर्वधारी है या नौ पूर्वधारी है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है और जिसने समस्त कषायवर्ग का क्षय कर दिया है ऐसा क्षीणकषाय जीव नौ पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक शब्द के आलम्बन से वहाँ एक द्रव्य, गुण या पर्याय में मेरुपर्वत के समान निश्चल भाव से अवस्थित चित्त वाले; असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से कर्मस्कन्धों को गलाने वाले, अनन्तगुणहीन श्रेणीक्रम से कर्मों के अनुभाग को शोषित करने वाले और कर्मों की स्थितियों को एक योग तथा एक शब्द के आलम्बन से प्राप्त हुए ध्यान के बल से घात करने वाले उस जीव का अन्तर्मुहूर्त काल जाता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीणकषाय के काल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदयादि गुणश्रेणीरूप से रचना करके पुनः स्थितिकाण्डकघात से बिना अधःस्थितिगलना द्वारा ही असंख्यात गुणश्रेणीक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करता हुआ क्षीणकषाय के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक जाता है और वहाँ क्षीणकषाय के अन्तिम समय में ज्ञानावरण,

सरूवेण रचिय पुणो ट्ठिदिखंडएण विणा अधट्ठिदि गलणेण असंखेज्जगुणाए सेडीए कम्मक्खंधे घादंतो गच्छदि जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। तत्थ खीणकसाय-चरिमसमए णाणावरणीयदंसणावरणीय-अंतराइयाणि विणासेदि। एदेसु विणट्ठेसु केवलणाणी केवलदंसणी अणंतवीरियो दाण-लाह-भोगुवभोगेसु विग्घवज्जियो होदि त्ति घेत्तव्वं। दोण्णं सुक्कज्झाणाणं किमालंबणं ? खंति-मद्दवादओ। एत्थ गाहा—

अह खंति-मद्दवज्जव-मुत्तीयो जिणमदप्पहाणाओ।
आलंबणेहि जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ।।६४।।

दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का युगपत् नाश करता है। इस प्रकार इनका नाश हो जाने पर जीव तदनन्तर समय में केवलज्ञानी, केवलदर्शनी और अनन्तवीर्य का धारी तथा दान-लाभ-भोग और उपभोग के विघ्न से रहित होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

शंका—दोनों ही शुक्लध्यानों का क्या आलम्बन है ?

समाधान—क्षमा और मार्दव आदि आलम्बन है। इस विषय में गाथा—

क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष ये जिनमत में ध्यान के प्रधान आलम्बन कहे गए हैं, जिन आलम्बनों का सहारा लेकर साधु शुक्लध्यान पर आरोहण करते हैं।।६४।।

अब दोनों प्रकार के शुक्लध्यानों के फल का कथन करते हैं—अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का फल है परन्तु मोह का सर्वोपशम करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि कषायसहित धर्मध्यानी के सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाति कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान का फल है परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्म्यध्यान का फल है, क्योंकि कषाय सहित धर्म्यध्यानी के सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाति कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान का फल है परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्म्यध्यान का फल है क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।

शंका—मोहनीय कर्म का उपशम करना यदि धर्म्यध्यान का फल है तो इसी से मोहनीय का क्षय नहीं हो सकता, क्योंकि एक कारण से दो कार्यों की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है ?

संपहि दोण्णं सुक्कज्झाणाणं फलपरूवणं कस्सामो—अट्ठावीसभेयभिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमावट्ठाणफलं पुधत्तविदक्कवीचारसुक्कज्झाणं। मोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झा-णफलं; सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसांपराइयस्स चरिमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसमुवलंभादो। तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्क-अवीचारज्झाणं। मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो। मोहणीयस्स उवसमो जदि धम्मज्झाणफलं तो ण क्खदी, एयादो दोण्णं कज्जाणमुप्पत्तिविरोहादो ? ण, धम्मज्झाणादो अणेयभेयभिण्णादो अणेयकज्जा-णमुप्पत्तीए विरोहाभावादो। एयत्तवियक्क-अवीयारज्झाणस्स अप्पडिवाइविसेसणं किण्ण कदं ? ण, उवसंतकसायम्मि भवद्धा खएहि कसाएसु णिधदिदम्मि पडिवादुवलंभादो। उवसंतकसायम्मि एयत्तविदक्कावीचारे संते 'उवसंतो दु पुधत्तं' इच्चेदेण विरोहो होदि त्ति णासंकणिज्जं, तत्थ पुधत्तमेवे त्ति णियमाभावादो। ण च खीणकसाय-द्धाए सव्वत्थ एयत्तविदक्कावीचारज्झाणमेव, जोगपरावत्तीए

समाधान—नहीं ; क्योंकि, धर्मध्यान अनेक प्रकार का है इसलिए उससे अनेक प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं आता।

शंका—एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान के लिए 'अप्रतिपाती' विशेषण क्यों नहीं दिया ?

समाधान—नहीं ; क्योंकि उपशान्तकषाय जीव के भवक्षय और कालक्षय के निमित्त से पुनः कषायों को प्राप्त होने पर एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान का प्रतिपात देखा जाता है।

शंका—यदि उपशान्तकषाय गुणस्थान में एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान होता है तो 'उवसंतो दु पुधत्तं' इत्यादि गाथावचन के साथ विरोध आता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपशान्तकषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है और क्षीणकषाय गुणस्थान के काल में सर्वत्र एकत्ववितर्क-अवीचार ध्यान ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है ; क्योंकि वहाँ योगपरावृत्ति का कथन एक समय प्रमाण अन्यथा बन नहीं सकता। इससे क्षीणकषाय काल के प्रारम्भ में पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। इस विषय में गाथाएँ—

जिस प्रकार चिरकाल संचित हुए ईंधन को वायु से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि अतिशीघ्र जला देती है, उसी प्रकार अपरिमित कर्मरूपी ईंधन को ध्यानरूपी अग्नि क्षणमात्र में जला देती है।।६५।।

एगसमयपरूवणण्णहाणु-ववत्तिबलेण तदद्धादीए पुधत्तविदक्कवीचारस्स वि संभवसिद्धीदो। एत्थ गाहाओ—

जह चिरसंचियमिंधणमणलो पवणुग्गदो धुवं दहइ।
तह कम्मिंधणममियं खणेण झाणाणलो दहइ।।६५।।
जह रोगासयसमणं विसोसणचिरेयणोसहविहीहि।
तह कम्मासयसमणं ज्झाणाणसणादिजोगेहि।।६६।।

संपहि सुक्कज्झाणस्स लिंगपरूवणा कीरदे—असंमोहविवेगविसग्गादओ सुक्क-ज्झाणलिंगाणि। इत्थ गाहाओ—

अभयासंमोहविवेगविसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिंगिज्जइ जेहि मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो।।६७।।
चालिज्जइ वीहेइ व धीरो ण परिस्सहोवसग्गेहि।
सुहुमेसु ण सम्मुज्झइ भावेसु ण देवपायासु।।६८।।
देहविचित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोए।
देहोवहिवोसग्गं णिस्संगो सव्वदो कुणदि।।६९।।
ण कसायसमुत्थेहि वि बाहिज्जइ माणसेहि दुक्खेहि।
ईसाविसायसोगादिएहि ज्झाणोवगयचित्तो।।७०।।

जिस प्रकार विशोषण, विरेचन और औषध के विधान से रोगाशय का शमन होता है, उसी प्रकार ध्यान और अनशन आदि निमित्त से कर्माशय का भी शमन होता है।।६६।।

अब शुक्लध्यान की पहचान का निर्देश करते हैं—असंमोह, विवेक और विसर्ग अर्थात् त्याग आदि शुक्लध्यान के लिंग हैं। इस विषय में गाथाएँ—

अभय, असंमोह, विवेक और विसर्ग ये शुक्लध्यान के लिंग हैं, जिनके द्वारा शुक्लध्यान को प्राप्त हुआ चित्त वाला मुनि पहचाना जाता है।६७।।

वह धीर परीषह और उपसर्गों से न तो चलायमान होता है और न डरता है तथा वह सूक्ष्म भावों में और देवमाया में भी नहीं मुग्ध होता है।।६८।।

वह देह को अपने से भिन्न अनुभव करता है। इसी प्रकार सब प्रकार के संयोगों से अपनी आत्मा को भी भिन्न अनुभव करता है तथा निःसंग हुआ वह सब प्रकार से देह और उपधि का उत्सर्ग करता है।।६९।।

ध्यान में अपने चित्त को लीन करने वाला वह कषायों से उत्पन्न हुए ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखों से भी नहीं बाधा जाता है।।७०।।

सीयायवादिएहि मि सारीरेहि बहुप्पयारेहिं।
णो बाहिज्जइ साहू ज्झेयम्मि सुणिच्चलो संतो।।७१।।

एवं विदियसुक्कज्झाणपरूवणा गदा।

संपहि तदियसुक्कज्झाणपरूवणं कस्सामो। तं जहा—क्रिया नाम योगः। प्रतिपतितुं शीलं यस्य तत्प्रतिपाति। तत्प्रतिपक्षः अप्रतिपाति। सूक्ष्मं क्रिया योगो यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रियम्। सूक्ष्मक्रियं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्। केवलज्ञानेनापसारितश्रुतज्ञानत्वात् तदवितर्कम्। अर्थांतरसंक्रांत्यभावात्तदवीचारं व्यञ्जनयोगसंक्रांत्यभावाद्वा। कथं तत्संक्रांत्यभावः ? तदवष्टंभबलेन विना आक्रमेण त्रिकालगोचराशेषावगतेः। एत्थ गाहाओ—

अविदक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं।
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगयं।।७२।।
सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं।
ज्झायदि णिरुंभिदुं जो सुहुमं तं कायजोगं पि।।७३।।

ध्येय में निश्चल हुआ वह साधु शीत व आतप आदिक बहुत प्रकार की शारीरिक बाधाओं के द्वारा भी नहीं बाधा जाता है।।७१।।

इस प्रकार दूसरे शुक्लध्यान का कथन समाप्त हुआ।

तब तीसरे शुक्लध्यान का कथन करते हैं। यथा—क्रिया का अर्थ योग है। वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है और सूक्ष्मक्रिय होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ केवलज्ञान के द्वारा श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है इसलिए वह अवितर्क है ; और अर्थान्तर की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है अथवा व्यंजन और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है।

शंका—इस ध्यान में इनकी संक्रान्ति का अभाव कैसे है ?

समाधान—इनके आलम्बन के बिना ही युगपत् त्रिकालगोचर अशेष पदार्थों का ज्ञान होता है इसलिए इस ध्यान में इनकी संक्रान्ति के अभाव का ज्ञान होता है। इस विषय में गाथाएँ—

तीसरा शुक्लध्यान अवितर्क, अवीचार और सूक्ष्मक्रिया से सम्बन्ध रखने वाला होता है क्योंकि काययोग के सूक्ष्म होने पर सर्वभावगत यह ध्यान कहा गया है।।७२।।

जो केवली जिन सूक्ष्म काययोग में विद्यमान होते हैं वे तीसरे शुक्लध्यान को करते हैं और उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करने के लिए उसका ध्यान करते हैं।।७३।।

एदस्स भावत्थो—उप्पण्णकेवलणाणदंसणेहि सव्वदव्वपज्जाए तिकालविसए जाणंतो पस्संतो करणक्कमववहाणवज्जियअणंतविरियो असंखेज्जगुणाए सेडीए कम्मणिज्जरं कुणमाणो देसूणपुव्वकोडिं विहरिय सजोगिजिणो अंतोमुहुत्तावसेसे आउए दंडकवाडपदरलोगपूरणाणि करेदि। तत्थ जं पढमसमए देसूणचोद्दसरज्जुउस्सेहं सगविक्खंभपमाणवट्टपरिवेदमप्पाणं कादूण ट्ठिदीए असंखेज्जे भागे अणुभागस्स अणंते भागे घादेदूण चेट्ठदि तं दंडं णाम। विदियसमए पुव्वावरेण वादवलयवज्जियलोगागासं सव्वं पि सगदेहविक्खंभेण वाविय सेसट्ठिदिअणुभागाणं जहाकमेण असंखेज्ज अणंते भागे घादिदूण जमवट्ठाणं तं कवाडं णाम। तदियसमए वादवलयं वज्जिय सव्वलोगागासं सगजीवपदेसेहि विसिप्पिदूण सेसट्ठिदिअणुभागाणं कमेण असंखेज्जे भागे अणंते भागे च घादेदूण जमवट्ठाणं तं पदरं णाम। चउत्थसमए सव्वलोगागासमावूरिय सेसट्ठिदिअणुभागाणमसंखेज्जे भागे अणंते भागे च घादिय जमवट्ठाणं तं लोगपूरणं

अब इसका भावार्थ कहते हैं—केवलज्ञान और केवलदर्शन के उत्पन्न हो जाने के कारण जो त्रिकालविषयक सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों को जानते हैं और देखते हैं; करण, क्रम और व्यवधान से रहित होकर जो अनन्तवीर्य के धारक हैं तथा जो असंख्यातगुणी श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं, ऐसे सयोगी जिन कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार कर आयु के अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। उसमें जो प्रथम समय में कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप और अपने विष्कंभप्रमाण गोलपरिवेदरूप आत्मप्रदेश कर स्थिति के असंख्यात बहुभाग का और अनुभाग के अनन्त बहुभाग का घात कर स्थित रहते हैं, उसका नाम दण्ड समुद्घात है। दूसरे समय में पूर्व और पश्चिम की ओर से वातवलय के सिवाय पूरे लोकाकाश को अपने देह के विस्तार द्वारा व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात बहुभाग और अनन्त बहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है वह कपाट समुद्घात है। तीसरे समय में वातवलय के सिवाय पूरे लोकाकाश को अपने जीवप्रदेशों के द्वारा व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात बहुभाग और अनन्त बहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है वह प्रतर समुद्घात है। चौथे समय में सब लोकाकाश को व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात बहुभाग और अनन्त बहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है वह लोकपूरण समुद्घात है। अब यहाँ शेष स्थिति का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है जो कि आयु के प्रमाण से संख्यातगुणा है। यहाँ से लेकर आगे सब स्थितिकाण्डक और अनुभाग काण्डकों को

णाम। संपहि एत्थ सेसट्ठिदिपमाणमंतोमुहुत्तो संखेज्जगुणमाउआदो। एत्तो प्पहुडि उवरि सव्वट्ठिदिखंडयाणि अणुभागखंडयाणि च अंतोमुहुत्तेण घादेदि। ट्ठिदिखंडयस्स आयामो अंतोमुहुत्तं अणुभागखंडयपमाणं पुण सेसअणुभागस्स अणंता भागा। एदेण कमेण अंतोमुहुत्तं गंतूण जोगणिरोह करेदि। को जोगणिरोहो ? जोगविणासो। तं जहा—एत्तो अंतोमुहुत्तं गंतूण बादरकायजोगेण बादरमणजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरवचिजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरउस्सासणिस्सासं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण तमेव बादरकायजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुममणजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण सुहुमकायजोगेण सुहूमवचिजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण सुहुमकायजोगेण सुहुमउस्सासणिस्सासं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुमकायजोगं णिरुंभमाणो इमाणि करणाणि करेदि-पढमसमए अपुव्वफद्दयाणि करेदि पुव्वफद्दयाणं हेट्ठदो। आदिवग्गणाए अविभागपडिच्छेदाणमसं-खेज्जदिभागमोकड्डदि

अन्तर्मुहूर्त के द्वारा घातता है। स्थितिकाण्डक का आयाम अन्तर्मुहूर्त है और अनुभागकाण्डक का प्रमाण शेष अनुभाग के अनन्त बहुभाग है। इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त है और अनुभागकाण्डक का प्रमाण शेष अनुभाग के अनन्त बहुभाग है। इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल जाने पर योगनिरोध करता है।

शंका—योग निरोध किसे कहते हैं ?

समाधान—योगों के विनाश की योग निरोध संज्ञा है। यथा—

यहाँ अन्तर्मुहूर्त काल बिताकर बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग का निरोध करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा बादर वचनयोग का निरोध करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा बादर उच्छ्वास निश्वास का निरोध करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा उसी बादर का निरोध करता है फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त काल जाने पर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ इन करणों को करता है। प्रथम समय में पूर्व स्पर्धकों के नीचे अपूर्व स्पर्धक करता है। ऐसा करते हुए प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीव प्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा उसी बादर काययोग का निरोध करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है फिर अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्व स्पर्धक करता है। ये अपूर्व स्पर्धक प्रतिसमय पहले समय

जीवपदेसाणं च असंखेज्जदिभागमोकड्डदि। एवमंतोमुहुत्तम-पुव्वफद्दयाणि करेदि। असंखेज्जगुणहीणाए सेडीए जीवपदेसाणं च असंखेज्जदिभागो पुव्वफद्दयाणं पि असंखेज्जदिभागो अपुव्वफद्दयाणि सव्वाणि। एवमपुव्वफद्दयकरणविहाणं गदं।

एत्तो अंतोमुहुत्तं किट्टीओ करेदि। अपुव्वफद्दयाणमादिवग्गणाए अविभागपडिच्छे-दाणमसंखेज्जदिभागमोकड्डदि। जीवपदेसाणमसंखेज्जदिभागमोकड्डदि। एत्थ अंतोमुहुत्तं किट्टीओ करेदि असंखेज्जगुणहीणाए सेडीए। जीवपदेसाणमसंखेज्जगुणाए सेडीए ओकड्डदि। किट्टिगुणगारो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। किट्टीओ सेडीए असंखेज्ज-दिभागो। अपुव्वफद्दयाणं पि असंखेज्जदिभागो। किट्टीकरणे णिट्ठिदे तदो से काले पुव्वफद्दयाणि अपुव्वफद्दयाणि च णासेइ। अंतोमुहुत्तं किट्टीगदजोगो होदि। सुहुमकिरियं अप्पडिवादि ज्झाणं ज्झायदि। किट्टीणं चरिमसमए असंखेज्जे भागे णासेइ। एदम्हि जोगणिरोहकाले सुहुमकिरियमप्पडिवादि ज्झाणं ज्झायदि त्ति जं भणिदं तण्ण घडदे ; केवलिस्स विसईकयासेसदव्वपज्जायस्स सगसव्वद्धाए एकरूवस्स अणिंदियस्स

में जितने किए गए उनसे अगले द्वितीयादि समयों में असंख्यात गुणहीन श्रेणीरूप से किए जाते हैं और पहले समय में जितने जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर किए उनसे अगले समयों में संख्यातगुणे श्रेणीरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर किए जाते हैं। इस प्रकार किए गए सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण जगश्रेणी के प्रथम वर्गमूल के अंसख्यातवें भाग प्रमाण और पूर्व स्पर्धकों के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। इस प्रकार अपूर्व स्पर्धक करने की विधि का कथन समाप्त हुआ।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है और ऐसा करते हुए अपूर्व स्पर्धकों की प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असंख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार यहाँ अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियाँ करता है। ये कृष्टियाँ प्रतिसमय पहले समय में जितनी की गई उनसे आगे द्वितीयादि समयों में असंख्यातगुणीहीन श्रेणीरूप से की जाती हैं और पहले समय में जितने जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर की गईं उनसे अगले समयों में असंख्यागुणी श्रेणीरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर की जाती हैं। कृष्टिगुणकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सब कृष्टियाँ जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और अपूर्व स्पर्धकों के भी असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

कृष्टिकरणक्रिया के समाप्त हो जाने पर फिर उसके अनन्तर समय में पूर्व स्पर्धकों का और अपूर्वस्पर्धकों का नाश करता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योग

एगवत्थुम्हि मणणिरोहाभावादो। ण च मणणिरोहेण विणा ज्झाणं संभवदि; अण्णत्थ तहाणुवलंभादो त्ति ? ण एस दोसो; एगवत्थुम्हि चिंताणिरोहो ज्झाणमिदि जदि घेप्पदि तो होदि दोसो। ण च एवमेत्थ घेप्पदि। पुणो एत्थ कधं घेप्पदि त्ति भणिदे जोगो उवयारेण चिंता; तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि एत्थ घेत्तव्वं; तेण ण पुव्वुत्तदोससंभवो त्ति। एत्थ गाहाओ—

तोयमिव णालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा जोगजलं ज्झाणजलणेण।।७४।।
जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोऽवणिज्जदि पहाणझर मंतजोएण।।७५।।

वाला होता है तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को ध्याता है। अन्तिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का नाश करता है।

शंका—इस योगनिरोध के काल में केवली जिन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं, यह जो कथन किया है वह नहीं बनता, क्योंकि केवली जिन अशेष द्रव्य पर्यायों को विषय करते हैं, अपने सब काल में एकरूप रहते हैं और इन्द्रिय ज्ञान से रहित हैं, अतएव उनका एक वस्तु में मन का निरोध करना उपलब्ध नहीं होता और मन का निरोध किए बिना ध्यान का होना सम्भव नहीं है क्योंकि अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रकृत में एक वस्तु में चिन्ता का निरोध करना ध्यान है, यदि ऐसा ग्रहण किया जाता है तो उक्त दोष आता है। परन्तु यहाँ ऐसा ग्रहण नहीं करते हैं।

शंका—तो यहाँ किस रूप में ग्रहण करते हैं ?

समाधान–यहाँ उपचार से योग का अर्थ चिन्ता है। उसका एकाग्ररूप से निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यान में किया जाता है वह ध्यान, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए, इसलिए यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव नहीं है।

इस विषय में गाथाएँ—

जिस प्रकार नाली द्वारा जल का क्रमशः अभाव होता है, या तपे हुए लोह के पात्र में स्थित जल का क्रमशः अभाव होता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा योगरूपी जल का क्रमशः नाश होता है।।७४।।

जिस प्रकार मन्त्र के द्वारा सब शरीर में भिदे हुए विष का डंक के स्थान में निरोध करते हैं और प्रधान क्षरण करने वाले मन्त्र के बल से उसे पुनः निकालते हैं।।७५।।

तह बादरतणुविसयं जोगविसं ज्झाणमंतबलजुत्तो।
अणुभावम्मि णिरुंभदि अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो।।७६।।

एवं तदियसुक्कज्झाणपरूवणा गदा।

संपहि चउत्थसुक्कज्झाणपरूवणं कस्सामो। तं जहा—समुच्छिन्ना क्रिया योगो यस्मिन् तत्समुच्छिन्नक्रियम्। समुच्छिन्नक्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्। श्रुतरहितत्वात् अवितर्कम् । जीवप्रदेशपरिस्पंदाभावादवीचारं अर्थव्यंजनयोगसंक्रांत्यभावाद्वा। एत्थ गाहा—

अविदक्कमवीचारं अणियट्टी अकिरियं च सेलेसिं।
ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं।।७७।।

उसी प्रकार ध्यानरूपी मन्त्र के बल से युक्त हुआ यह सयोगिकेवलीजिनरूपी वैद्य बादर शरीरविषयक योगविष को पहले रोकता है और इसके बाद उसे निकाल फेंकता है।।७६।।

इस प्रकार तीसरे शुक्लध्यान का कथन समाप्त हुआ।

अब चौथे शुक्लध्यान का कथन करते हैं। यथा—जिसमें क्रिया अर्थात् योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो गया है वह समुच्छिन्नक्रिय कहलाता है और समुच्छिन्नक्रिय होकर जो अप्रतिपाती है वह समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यान है। यह श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है। जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अवीचार है; या अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति के अभाव होने से अवीचार है। इस विषय में गाथा—

अन्तिम उत्तम शुक्लध्यान वितर्करहित है, वीचाररहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है, शैलेशी अवस्था को प्राप्त है और योगरहित है।।७७।।

इसका अर्थ—योग का निरोध होने पर शेष कर्मों की स्थिति आयु कर्म के समान अन्तर्मुहूर्त होती है। तदनन्तर समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है और समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याता है।

शंका—यहाँ ध्यान संज्ञा किस कारण से दी गई है ?

समाधान—एकाग्ररूप से जीव के चिन्ता का निरोध अर्थात् परिस्पन्द का अभाव होना ही ध्यान है, इस दृष्टि से यहाँ ध्यान संज्ञा दी गई है।

शंका—इस ध्यान का क्या फल है ?

समाधान—अघातिचतुष्क का विनाश करना इस ध्यान का फल है।

एदस्स अत्थो—जोगम्हि णिरुद्धम्हि आउसमाणि कम्माणि होंति अंतोमुहुत्तं। से काले सेलेसियं पडिवज्जदि समुच्छिण्णकिरियमणियट्टि सुक्कज्झाणं ज्झायदि। कधमेत्थ ज्झाणववएसो ? एयग्गेण चिंताए जीवस्स णिरोहो परिप्फंदाभावो ज्झाणं णाम। किं फलमेदं ज्झाणं ? अघाइचउक्कविणासफलं। तदियसुक्कज्झाणं जोगणिरोहफलं। सेलेसियअद्धाए ज्झीणाए सव्वकम्मविप्पमुक्को एगसमएण सिद्धिं गच्छदि। एवं ज्झाणं णाम तवोकम्मं गदं।

द्वियस्स णिसण्णस्स णिव्वण्णस्स वा साहुस्स कसाएहि सह देहपरिच्चागो काउसग्गो णाम। णेदं ज्झाणस्संतो णिवददि; बारहाणुवेक्खासु वावदचित्तस्स वि काओस्सग्गुववत्तीदो। एवं तवोकम्मं परूविदं।

योग का निरोध करना तीसरे शुक्लध्यान का फल है।

शैलेशी अवस्था के काल के क्षीण होने पर सब कर्मों से मुक्त हुआ यह जीव एक समय में सिद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार ध्यान नामक तपःकर्म का कथन समाप्त हुआ।

स्थित या बैठे हुए कायोत्सर्ग करने वाले साधु का कषायों के साथ शरीर का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का तपःकर्म है। इसका ध्यान में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि जिसका बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में चित्त लगा हुआ है, उसके भी कायोत्सगं की उत्पत्ति देखी जाती है।

इस प्रकार तपःकर्म का कथन समाप्त हुआ।

१. षट्खण्डागम, धवला टीका, पु० १३, पृ० ५४ से ८८ तक।

द्वादशतप

(मूलाचार ग्रन्थ से[१])

दुविहा य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो।
एक्कक्को विय छद्धा जधाकमं तं परूवेमो।।३४५।।

द्विप्रकारस्तप आचारस्तपोऽनुष्ठानं। बाह्यो बाह्यजनप्रकटः। अभ्यन्तरोऽभ्यन्तरजनप्रकटः। एकैकोऽपि च बाह्याभ्यन्तरश्चैकैकः षोढा षड्प्रकारः यथाक्रमं क्रममनुल्लंघ्य प्ररूपयामि कथयिष्यामीति।।३४५।।

बाह्यं षड्भेदं नामोद्देशेन निरूपयन्नाह—

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं।।३४६।।

अनशनं चतुर्विधाहारपरित्यागः। अवमौदर्यमतृप्तिभोजनं। रसानां परित्यागो रसपरित्यागः स्वाभिलषितस्निग्धमधुराम्लकटुकादिरसपरिहारः। वृत्तेः परिसंख्या वृत्तिपरिसंख्या गृहदायकभाजनौदनकालादीनां परिसंख्यानपूर्वको ग्रहः। कायस्य शरीरस्य परितापः कर्मक्षयाय बुद्धिपूर्वक शोषणं आतापनाभ्रावकाशवृक्षमूलादिभिः। विविक्तशयनासनं स्त्रीपशुषण्ढकविवर्जितं स्थानसेवनं षष्ठमिति।।३४६।।

अब तप आचार को कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप आचार दो प्रकार का जानना चाहिए। उसमें एक-एक भी छः प्रकार का है। उनको मैं क्रम से कहूँगा।।३४५।।

आचारवृत्ति—तप के अनुष्ठान का नाम तप-आचार है। उसके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। जो बाह्य जनों में प्रकट है वह बाह्य तप है और जो आभ्यन्तर जनों—अपने धार्मिकजनों में प्रकट है उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। ये बाह्य-आभ्यन्तर दोनों ही तप छः-छः प्रकार के हैं। मैं इन सभी का क्रम से वर्णन करूँगा।

बाह्य तप के छहों भेदों के नाम और उद्देश्य का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शयनासन ये छः बाह्य तप हैं।।३४६।।

आचारवृत्ति—चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अतृप्ति भोजन अर्थात् पेट भर भोजन न करना अवमौदर्य है। रसों का परित्याग करना—अपने लिए इष्ट स्निग्ध, मधुर, अम्ल, कटुक आदि रसों का परिहार करना रसपरित्याग है। वृत्ति—आहार की चर्या में परिसंख्या—गणना अर्थात् नियम करना। गृह का, दातार

१. मूलाचार भाग-१, पृ० २८२ से ३२३ तक।

अनशनस्य भेदं स्वरूपं च प्रतिपादयन्नाह—

इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेयव्वं।
इत्तिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं।।३४७।।

अनशनं पुनरित्तिरिययावज्जीवभेदाभ्यां द्विविधं ज्ञातव्यं इत्तिरियं साकांक्षं कालादिभिः सापेक्षं एतावन्तं कालमहमशनादिकं नानुतिष्ठामीति। निराकांक्षं भवेद् द्वितीयं यावज्जीवं आमरणान्तादपि न सेवनम्।।३४७।।

साकांक्षानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि।
कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे।।३४८।।

अहोरात्रस्य मध्ये द्वे भक्तवेले तत्रैकस्यां भक्तवेलायां भोजनमेकस्याः परित्याग एकभक्तः। चतसृणां भक्तवेलानां परित्यागे चतुर्थः। षण्णां भक्तवेलानां परित्यागे षष्ठो द्विदिनपरित्यागः। अष्टानां परित्यागेऽष्ट मस्त्रय उपवासाः। दशानां त्यागे दशमश्चत्वार उपवासाः। द्वादशानां परित्यागे द्वादशः पंचोपवासाः। मासार्ध-पंचदशोपवासाः पंचदशदिनान्याहारपरित्यागः। मास—मासोपवासास्त्रिंशदहोरात्रमात्रा अशनत्यागः। क्षमणान्युपवासाः। आवलीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कनकावली चैकावली च

का, बर्तनों का, भात आदि भोज्य वस्तु का या काल आदि का गणनापूर्वक नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान है अर्थात् आहार को निकलते समय दातारों के घर का या किसी दातार आदि का नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। काय अर्थात् शरीर को परिताप—क्लेश देना, आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल आदि के द्वारा कर्मक्षय के लिए बुद्धिपूर्वक शोषण करना कायक्लेश तप है। स्त्री, पशु और नपुंसक से वर्जित स्थान का सेवन करना विविक्तशयनासन तप है। ऐसे इन छः बाह्य तपों का नाम निर्देशपूर्वक संक्षिप्त लक्षण किया है। आगे प्रत्येक का लक्षण आचार्य स्वयं कर रहे हैं।

अनशन का स्वरूप और उसके भेद बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—काल की मर्यादा सहित और जीवनपर्यन्त के भेद से अनशन तप दो प्रकार जानना चाहिए। काल की मर्यादा सहित साकांक्ष है और दूसरा यावज्जीवन अनशन निराकांक्ष होता है।।३४७।।

आचारवृत्ति—इत्तिरिय—इतने काल तक और यावज्जीवं—जीवनपर्यन्त तक के भेद से अनशन तप दो प्रकार का है। उसमें 'इतने काल पर्यन्त मैं अनशन अर्थात् भोजन आदि का अनुष्ठान नहीं करूंगा' ऐसा काल आदि सापेक्ष जो अनशन होता है वह

कनकावल्येकावल्यौ तौ विधी आदिर्येषां तपोविधानानां कनकैकावल्यादीनि। आदिशब्देन मुरजमध्य-विमानपंक्ति-सिंहनिष्क्रीडितादीनां ग्रहणं। कनकावल्यादीनां प्रपंचः टीकाराधनायां द्रष्टव्यो विस्तरभयान्नेह प्रतयन्ते। अनाहारोऽनशनं षष्ठाष्टमदशमद्वादशैर्मासार्धमासादिभिश्च यानि क्षमणानि कनकैकावल्यादीनि च यानि तपोविधानानि तानि सर्वाण्यनाहारो यावदुत्कृष्टेन षण्मासास्तत्सर्वं साकांक्षमनशनमिति।।३४८।।

निराकांक्षस्यानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि।
अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि।।३४९।।

इत्तिरिय—साकांक्ष अनशन तप है। जिसमें मरण पर्यन्त तक अनशन का त्याग कर दिया जाता है वह यावज्जीवन निराकांक्ष नाम का दूसरा तप होता है।

अब साकांक्ष अनशन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन और महीने भर का उपवास कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान अनशन में कहे गए हैं।।३४८।।

आचारवृत्ति—अहोरात्र के मध्य भोजन की दो बेला होती हैं। उनमें से एक भोजन बेला में भोजन करना और एक भोजन बेला में भोजन का त्याग करना यह एकभक्त है। चार भोजन बेलाओं में चार भोजन का त्याग करना चतुर्थ है अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एकाशन करना तथा व्रत के दिन दोनों समय भोजन का त्याग करके उपवास करना—इस तरह चार भोजन का त्याग होने से जो उपवास होता है उसे चतुर्थ कहते हैं। छह भोजन बेलाओं के त्याग में षष्ठ कहा जाता है अर्थात् धारणा-पारणा के दिन एकाशन तथा दो दिन का पूर्ण उपवास इसे ही षष्ठ बेला कहते हैं। आठ भोजन बेलाओं में आठ भोजन का त्याग करने से अष्टम अर्थात् तेला कहा जाता है। दश भोजन बेलाओं के त्याग करने पर दशम—चार उपवास होते हैं। बारह भुक्तियों के त्याग से द्वादश—पाँच उपवास हो जाते हैं। पन्द्रह दिन तक आहार का त्याग करने से अर्धमास का उपवास होता है। तीन दिन-रात तक भोजन का त्याग करने से एक मास का उपवास होता है तथा कनकावली, एकावली आदि भी तपो विधान है। यहाँ आदि शब्द से मुरजबन्ध, विमानपंक्ति, सिंहनिष्क्रीड़ित आदि व्रतों को ग्रहण करना चाहिए। इन कनकावली आदि व्रतों का विस्तृत कथन आराधना टीका में देखना चाहिए। विस्तार के भय से उनको यहाँ पर हम नहीं कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि आहार का त्याग करना अनशन है। बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन, एक महीने आदि के उपवास, कनकावली, एकावली आदि व्रतों

भक्तप्रत्याख्यानं द्वयाद्यष्टचत्वारिंशन्निर्यापकैः परिचर्यमाणस्यात्मपरोपकार-सव्यपेक्षस्य यावज्जीवमाहारत्यागः। इङ्गणीमरणं नामात्मोपकारसव्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनमरणं नामात्मपरोपकारनिरपेक्षं। एतानि त्रीणि मरणानि। एवमादीन्यन्यान्यपि प्रत्याख्यानि निराकांक्षाणि यानि तानि सर्वाण्यनिराकांक्षमनशनं बोद्धव्यं ज्ञातव्यमिति।।३५०।।

अवमौदर्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं।।३५०।।

का आचरण ये सब उपवास उत्कृष्ट से छः मास पर्यन्त तक होते हैं। ये सब साकांक्ष अनशन हैं।

अब निराकांक्ष अनशन का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन जो ये मरण हैं ऐसे और भी जो अनशन हैं वे निराकांक्ष जानना चाहिए।।३४९।।

आचारवृत्ति—दो से लेकर अड़तालीस पर्यन्त निर्यापकों के द्वारा जिनकी परिचर्या की जाती है, जो अपनी और पर के उपकार की अपेक्षा रखते हैं ऐसे मुनि का जो जीवन पर्यन्त आहार का त्याग है वह भक्त प्रत्याख्यान नाम का समाधिमरण है। जो अपने उपकार की अपेक्षा सहित है और पर के उपकार से निरपेक्ष है वह इंगिनीमरण है। जिस मरण में अपने और पर के उपकार की अपेक्षा नहीं है वह प्रायोपगमन मरण है। ये तीन प्रकार के मरण होते हैं अर्थात् छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के मरण का नाम पण्डितमरण है उसके ही ये तीनों भेद हैं। इसी प्रकार से और भी जो अन्य उपवास होते हैं वे सब निराकांक्ष अनशन कहलाते हैं।

अब अवमौदर्य का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पुरुष का निश्चित रूप से स्वभाव से बत्तीस कवल आहार होता है। उस आहार में से एक कवल आदि रूप से कम ग्रहण करना अवमौदर्य तप है।।३५०।।

आचारवृत्ति—पुरुष का प्राकृतिक आहार बत्तीस कवल प्रमाण होता है। उन बत्तीस ग्रासों में से एक ग्रास कम करना, दो ग्रास कम करना, तीन ग्रास कम करना, इस प्रकार से जब तक एक ग्रास न हो जाय तब तक कम करते जाना अथवा एक सिक्थ—भात का कण मात्र रह जाय तब तक कम करते जाना यह अवमौदर्य तप है। गाथा में आया 'किल' शब्द आगम अर्थ का सूचक है अर्थात् आगम में ऐसा कहा गया

द्वात्रिंशत्कबलाः पुरुषस्य प्रकृत्याहारो भवति। ततो द्वात्रिंशत्कवलेभ्य एककवलेनोनं द्वाभ्यां। त्रिभिः, इत्येवं यावदेककवलः शेषः एकसिक्थो वा। किलशब्द आगमार्थसूचकः आगमे पठितमिति। एककवलादिभिर्नित्यस्याहारस्य ग्रहणं यत् सावमौदर्यवृत्तिः। सहस्रतंदुलमात्रः कवल आगमे पठितः द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य स्वाभाविक आहारस्तेभ्यो यन्न्यूनग्रहणं तदवमोदर्यं तप इति।।३५१।।

किमर्थमवमोदर्यवृत्तिरनुष्ठीयत इति पृष्टे उत्तरमाह—

धम्मावासयजोगे णाणादीए उवग्गहं कुणदि।
ण य इंदियप्पदोसयरी उम्मोदरितवोवुत्ती।।३५१।।

है। एक ग्रास आदि से प्रारम्भ करके एक ग्रास कम तक जो आहार का ग्रहण करना है वह अवमौदर्य चर्या है। आगम में एक हजार चावल का एक कवल कहा गया है अर्थात् बत्तीस ग्रास पुरुष का स्वाभाविक आहार है उससे जो न्यून है वह अवमौदर्य तप है।

किसलिए अवमौदर्य तप का अनुष्ठान किया जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—धर्म, आवश्यक क्रिया और योगों में तथा ज्ञानादिक में उपकार करता है क्योंकि अवमौदर्य तप की वृत्ति इन्द्रियों से द्वेष करने वाली नहीं है।।३५१।।

आचारवृत्ति—उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाले दश प्रकार के धर्म में, समता, वन्दना आदि छः आवश्यक क्रियाओं में, वृक्षमूल आदि योगों में ज्ञानादिक—स्वाध्याय और चारित्र में यह अवमौदर्य तप उपकार करता है। इस तपश्चरण से इन्द्रियाँ प्रद्वेष को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु वश में रहती हैं। बहुत भोजन करने वाला धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता है। परिपूर्ण आवश्यक क्रियाओं का पालन नहीं कर पाता है। आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल इन तीन काल सम्बन्धी योगों को भी सुख से नहीं धारण कर सकता है तथा स्वाध्याय और ध्यान करने में भी समर्थ नहीं हो पाता है। उस मुनि की इन्द्रियाँ भी स्वेच्छाचारी हो जाती हैं किन्तु मितभोजी साधु में धर्म, आवश्यक आदि क्रियाएँ स्वेच्छा से रहती हैं।

भावार्थ—भूख से कम खाने वाले साधु के प्रमाद नहीं होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि निर्विघ्न होते हैं किन्तु अधिक भोजन करने वाले के प्रमाद से सभी कार्यों में बाधा पहुँचती है इसलिए यह तप गुणकारी है।

धर्मे क्षमादिलक्षणे दशप्रकारे। आवश्यकक्रियासु समतादिषु षट्सु। योगेषु वृक्षमूलादिषु। ज्ञानादिके स्वाध्याये चारित्रे चोपग्रहमुपकारं करोतीत्यवमोदर्यतपोवृत्तिः। न चेन्द्रियप्रद्वेषकरी न चावमोदर्यवृत्येन्द्रियाणि प्रद्वेषं गच्छन्ति किन्तु वशे तिष्ठन्तीति। बह्वाशीर्धर्मं नानुतिष्ठति। आवश्यकक्रियाश्च न सम्पूर्णाः पालयति। त्रिकालयोगं च न क्षेमेण समानयति। स्वाध्यायध्यानादिकं च न कर्तुं शक्नोति। तस्येन्द्रियाणि च स्वेच्छाचारीणि भवन्तीति। मिताशिनः पुनर्धर्मादयः स्वेच्छया वर्तन्त इति।।३५२।।

रसपरित्यागस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायंविलमधुररसाणं च जं चयणं।।३५२।।

अथ को रसपरित्याग इति पृष्टेऽत आह—क्षीरदधिसर्पिस्तैलगुडलवणानां घृतपूरलड्डुकादीनां च यत् परिच्चयणं—परित्यजनं एकैकशः सर्वेषां वा तिक्तकटुककषा-याम्लमधुररसानां च यत्त्यजनं स रसपरित्यागः। एतेषां प्रासुकानामपि तपोबुद्ध्या त्यजनम्।।३५२।।

याः पुनर्महाविकृतयस्ताः कथमिति प्रश्नेऽत आह—

चत्तारि महावियडी य होंति णवणीदमज्जमंसमधू।
कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ एदाओ।।३५३।।

याः पुनश्चतस्त्रो महाविकृतयो महापापहेतवो भवन्तीति नवनीतमद्यमांसमधूनि, कांक्षाप्रसंगदर्पासंयमकारिण्य एताः। नवनीतं कांक्षां—महाविषयाभिलाषं करोति।

अब रसपरित्याग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और लवण इन रसों का जो परित्याग करना है और तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल तथा मधुर इन पाँच प्रकार के रसों का त्याग करना है वह रसपरित्याग है।।३५२।।

आचारवृत्ति—रसपरित्याग क्या है ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक तथा घृतपूर्ण पुआ, लड्डू आदि का जो त्याग करना है। इनमें एक-एक का या सभी का छोड़ना; तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है। इस तप में इन प्रासुक वस्तुओं का भी तपश्चरण की बुद्धि से त्याग किया जाता है।

जो महाविकृतियाँ हैं वे कौन सी हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ होती हैं। ये अभिलाषा, प्रसंग—व्यभिचार, दर्प और असंयम को करने वाली हैं।।३५३।।

मद्यं—सुराप्रसंगमगम्यगमनं करोति। मांसं-पिशितं दर्पं करोति। मधु असंयमं हिंसां करोति।।३५३।।

एताः किंकर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण।
ताओ जावज्जीवं णिव्वुड्ढाओ पुरा चेव।।३५४।।

सर्वज्ञाभिकाक्षिणा—सर्वज्ञमतानुपालकेन। अवद्यभीरुणा—पापभीरुणा, तपःकामेन—तपोनुष्ठानपरेण, समाधिकामे—न च ता नवनीतमद्यमांसमधूनि विकृतयो यावज्जीवं—सर्वकालं निर्व्यूढाः—निसृष्टाः त्यक्ताः पुरा चैव पूर्वस्मिन्नेव काले संयमग्रहणान्पूर्वमेव। आज्ञाभिकांक्षिणा नवनीतं सर्वथा त्याज्यं दुष्टकांक्षाकारित्वात्। अवद्यभीरुणा मांसं सर्वथा त्याज्यं दर्पकारित्वात्। ततः तपःकामेन मद्यं सर्वथा त्याज्यं प्रसंगकारित्वात्। समाधिकामेन मधु सर्वथा त्याज्यं, असंयमकारित्वात्। व्यस्तं समस्तं वा योज्यमिति।।३५४।।

आचारवृत्ति—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चारों ही महाविकृति पाप की हेतु हैं। नवनीत विषयों की महान् अभिलाषा को उत्पन्न करता है। मद्य, प्रसंग, अगम्य अर्थात् वेश्या या व्यभिचारिणी स्त्री का सहवास कराता है। मांस अभिमान को पैदा करता है और मधु हिंसा में प्रवृत्त कराता है।

इन्हें क्या करना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आज्ञापालन के इच्छुक, पापभीरू, तप और समाधि की इच्छा करने वाले ने पहले ही इनका जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है।।३५४।।

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करने वाले, पापभीरू, तप के अनुष्ठान में तत्पर और समाधि की इच्छा करने वाले भव्य जीव ने संयम ग्रहण करने के पूर्व में ही इन मक्खन, मद्य, मांस और मधु नामक चारों विकृतियों का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है।

आज्ञापालन करने के इच्छुक को नवनीत का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह दुष्ट अभिलाषा को उत्पन्न करने वाला है। पापभीरू को मांस का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह दर्प—उत्तेजना का करने वाला है। तपश्चरण की इच्छा करने वाले को चाहिए कि वह मद्य को सर्वथा के लिए छोड़ दे क्योंकि वह अगम्या—वेश्या आदि का सेवन कराने वाला है तथा समाधि की इच्छा करने वाले को मधु का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह असंयम को करने वाला है। इनको पृथक्-पृथक् या समूहरूप से भी लगा लेना चाहिए।

वृत्तिपरिसंख्यानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

गोयरपमाण दायगभायण णाणाविहाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा।।३५५।।

गोचरस्य प्रमाणं गोचरप्रमाणं गृहप्रमाणं, एतेषु गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुष्विति। दायका दातारो भाजनानि परिवेष्यपात्राणि तेषां यन्नानाविधानं नानाकरणं तस्य ग्रहणं स्वीकरणं—दातृविशेषग्रहणं पात्रविशेषग्रहणं च। यदि वृद्धो मां विधरेत् तदानीं तिष्ठामि नान्यथा। अथवा बालो युवा स्त्री उषानत्करहितो वर्त्मनि स्थितोऽन्यथा वा विधरेत् तदानीं तिष्ठामिति। कांस्यभाजनेन रूप्यभाजनेन सुवर्णभाजनेन मृन्मयभाजनेन वा ददाति तदा गृहीष्यामीति यदेवमाद्यं। तथाशनस्य विविधस्य नानाप्रकारस्य यद्ग्रहणमवग्रहोपादानं, अद्य मकुष्ठं भोक्ष्ये नान्यत्। अथवाद्य मंडकान् सक्तून् ओदनं वा ग्रहीष्यामीति यदेवमाद्यं ग्रहणं तत्सर्वं वृत्तिपरिसंख्यानमिति।।३५५।।

भावार्थ—एक-एक गुण के इच्छुक को एक-एक के त्यागने का उपदेश दिया है। वैसे ही एक-एक गुण के इच्छुक को चारों का भी त्याग कर देना चाहिए अथवा चारों गुणों के इच्छुक को चारों वस्तुओं का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—गृहों के प्रमाण, दाता का, बर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियमाङ्कण करना है तथा नाना प्रकार के भोजन का नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यानव्रत है।।३५५।।

आचारवृत्ति—गृहों के प्रमाण को गोचर प्रमाण कहते हैं। जैसे 'आज मैं इन गृहों में आहार हेतु जाऊँगा और अधिक गृहों में नहीं जाऊँगा' ऐसा नियम करना। दायक अर्थात् दातार और भाजन अर्थात् भोजन रखने के या भोजन परोसने के बर्तन—इनकी जो नाना प्रकार से विधि लेना है वह दायक-भाजन विधि अर्थात् दाता विशेष और पात्र विशेष की विधि ग्रहण करना है। जैसे 'यदि वृद्ध मनुष्य मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा अन्यथा नहीं अथवा बालक, युवक, महिला या जूते अथवा खड़ाऊँ आदि से रहित कोई पुरुष मार्ग में खड़ा हुआ मुझे पड़गाहे तो मैं ठहरूँगा अथवा ये अन्य अमुक विधि से मुझे पड़गाहें तो मैं ठहरूँगा' इत्यादि नियम लेकर चर्या के लिए निकलना। ऐसे ही बर्तन सम्बन्धी नियम लेना, जैसे 'मुझे आज यदि कोई कांसे के बर्तन से, सोने के बर्तन से या मिट्टी के बर्तन से आहार देगा तो मैं ले लूँगा, या इसी प्रकार से अन्य और भी नियम लेना तथा नाना प्रकार के भोजन सम्बन्धी जो नियम लेना है वह सब वृत्तिपरिसंख्यान है। जैसे, 'आज मैं मोठ ही खाऊँगा अन्य कुछ नहीं', इत्यादि रूप से जो भी नियम लिए जाते हैं वे सब वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाते हैं।

कायक्लेशस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो।।३५६।।

स्थानं—कायोत्सर्गं शयनं—एकपार्श्वमृतकदण्डादिशयनं। आसनं—उत्कुटिका-पर्यंक-वीरासन-मकरमुखाद्यासनं। स्थानशयनासनैर्विविधैश्चावग्रहैर्धर्मोपकार-हेतुभिरभिप्रायै-र्बहुभिरनुवीचीपरितापः सूत्रानुसारेण कायपरितापो वृक्षमूलाभ्रावकाशा-तापनादिरेष कायक्लेशो भवति।।३५६।।

विविक्तशयनासनस्वरूपमाह—

तेरिक्खिय माणुस्सिय सविगारियदेवि गेहि संसत्ते।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे।।३५७।।

तिर्यंचो—गोमहिष्यादयः। मानुष्यः—स्त्रियो वेश्याः स्वेच्छाचारिण्यादयः। सविकारिण्यो—देव्यो भवनवानव्यन्तरादियोषितः। गेहिनो गृहस्याः। एतैः संसक्तान्—सहितान्, निलयानावसान् वर्जयन्ति—परिहरन्त्यप्रमत्ता यत्नपराः सन्तः शयनासनस्थानेषु कर्तव्येषु एवमनुतिष्ठतो विविक्तशयनासनं नाम तप इति।।३५७।।

भावार्थ—इन्द्रिय और मन के निग्रह के लिए नाना प्रकार के तपश्चरणों का अनुष्ठान किया जाता है और इस वृत्तिपरिसंख्यान के नियम से भी इच्छाओं का निरोध होकर भूख-प्यास को सहन करने का अभ्यास होता है।

कायक्लेश तप का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—खड़े होना—कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना, यह कायक्लेश नाम का तप है।।३५६।।

आचारवृत्ति—स्थान—कायोत्सर्ग करना। शयन—एक पसवाड़े से या मृतकासन से या दण्डे के समान लम्बे पड़कर सोना। आसन—उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, वीरासन, मकरमुखासन आदि तरह-तरह के आसन लगाकर बैठना। इन कायोत्सर्ग, शयन और आसनों द्वारा तथा अनेक प्रकार के धर्मोपकार हेतु नियमों के द्वारा सूत्र के अनुसार काय को ताप देना अर्थात् शरीर को कष्ट देना; वृक्षमूल, अभ्रावकाश और आतापन आदि नाना प्रकार के योग धारण करना यह सब कायक्लेश तप है।

भावार्थ—इस तपश्चरण द्वारा शरीर में कष्ट-सहिष्णुता आ जाने से, घोर उपसर्ग या परीषहों के आ जाने पर भी साधु अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं इसलिए यह तप भी बहुत ही आवश्यक है।

बाह्य तप उपसंहरन्नाह—

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते।।३५८।।

तन्नाम बाह्यं तपो येन मनोदुष्कृतं-चित्तसंक्लेशो नोत्तिष्ठति नोत्पद्यते। येन च श्रद्धा शोभनानुरागो जायत उत्पद्यते येन च योगा मूलगुणा न हीयन्ते।।३५८।।

एसो दु बाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो।
अब्भंतरजणणादं बोच्छं अब्भंतरं वि तवं।।३५९।।

तद्बाह्यं तपः षड्विधं बाह्यजनानां मिथ्यादृष्टिजनानामपि प्रकटं प्रख्यातं परमघोरं सुष्ठु दुष्करं प्रतिपादितं। अभ्यन्तरजनज्ञातं आगमप्रविष्टजनैर्ज्ञातं वक्ष्ये कथयिष्याम्यभ्यन्तरमपि षड्विधं तपः।।३५९।।

श्री पूज्यवाद स्वामी ने भी कहा है—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेद् मुनिः।।१०२।। (समाधिशतक)

सुखी जीवन में किया गया तत्त्वज्ञान का अभ्यास दुःख के आ जाने पर क्षीण हो जाता है इसलिए मुनि अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के द्वारा अपनी आत्मा की भावना करे अर्थात् कायक्लेश आदि के द्वारा दुःखों को बुलाकर अपनी आत्मा का चिन्तवन करते हुए अभ्यास दृढ़ करे।

विविक्तशयनासन तप का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रमादी मुनि सोने, बैठने और ठहरने में तिर्यंचिनी, मनुष्य-स्त्री, विकारसहित देवियाँ और गृहस्थों से सहित मकानों को छोड़ देते हैं।।३५७।।

आचारवृत्ति—अप्रमत्त अर्थात् यत्न में तत्पर होते हुए सावधान मुनि सोना, बैठना और ठहरना इन प्रसंगों में अर्थात् अपने ठहरने के प्रसंग में—जहाँ, गाय, भैंस आदि तिर्यंच हैं; वेश्या, स्वेच्छाचारिणी आदि महिलाएँ हैं; भवनवासिनी, व्यंतरवासिनी आदि विकारी वेषभूषा वाली देवियाँ हैं अथवा गृहस्थजन हैं। ऐसे इन लोगों से सहित गृहों को, वसतिकाओं को छोड़ देते हैं। इस तरह इन तिर्यंच आदि से रहित स्थानों में रहने वाले मुनि के यह विविक्त शयनासन नाम का तप होता है।

अब बाह्य तपों का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योगहीन नहीं होते हैं।।३५८।।

के ते षट्प्रकारा इत्याशंकायामाह—

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो।।३६०।।

प्रायश्चित्तं—पूर्वापराधशोधनं। विनयमनुतद्धृ वृत्तिः। वैयावृत्यं स्वशक्त्योपकारः। तथैव स्वाध्यायः सिद्धान्ताद्यध्ययनं। ध्यानं चैकाग्रचिंतानिरोधः व्युत्सर्गः। अभ्यन्तरतप एतदिति।।३६०।।

प्रायश्चित्तस्वरूपं निरूपयन्नाह—

पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोति तेण वुत्तं दसविहं तु।।३६१।।

आचारवृत्ति—बाह्य तप वही है कि जिससे मन में संक्लेश नहीं उत्पन्न होता है, जिससे श्रद्धा—शुभ अनुराग उत्पन्न होता है और जिससे योग अर्थात् मूलगुण हानि को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् बाह्य तप का अनुष्ठान वही अच्छा माना जाता है कि जिसके करने से मन में संक्लेश न उत्पन्न हो जावे या शुभ परिणामों का विघात न हो जावे अथवा मूलगुणों की हानि न हो जावे।

गाथार्थ—यह बाह्य तप बाह्य जैन मत से बर्हिभूत जनों में प्रगट है, परम घोर है, सो कहा गया है। अब मैं अभ्यन्तर—जैनदृष्टि लोगों में प्रसिद्ध ऐसे अभ्यन्तर तप को कहूँगा।।३५९।।

आचारवृत्ति—यह छः प्रकार का बाह्य तप का, जो मिथ्या दृष्टिजनों में भी प्रख्यात है और अत्यन्त दुष्कर है, मैंने प्रतिपादन किया है। अब आगम में प्रवेश करने वाले ऐसे सम्यग्दृष्टिजनों के द्वारा जाने गए छह भेद वाले अभ्यन्तर तप को भी मैं कहूँगा।

अभ्यन्तर तप के वे छह प्रकार कौन से हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग, ये अभ्यन्तर तप हैं।।३६०।।

आचारवृत्ति—पूर्व के किए हुए अपराधों का शोधन करना प्रायश्चित्त है। उद्धतपनरहित वृत्ति का होना अर्थात् नम्र वृत्ति का होना विनय है। अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्त्य है। सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय है। एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है और उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

प्रायश्चित्तमपराधं प्राप्तः सन् येन तपसा पूर्वकृतात्पापात् विशुद्धयते हु—स्फुटं पूर्वं व्रतैः सम्पूर्णो भवति तत्तपस्तेन कारणेन दशप्रकारं प्रायश्चित्तमिति।।३६१।।

के ते दशप्रकारा इत्याशंकायामाह—

आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा।।३६२।।

आलोचना—आचार्याय देवाय वा चारित्राचारपूर्वकमुत्पन्नापराधनिवेदनं। प्रतिक्रमणं—रात्रि भोजनत्यागव्रतसहितपंचमहाव्रतोच्चारणं संभावनं दिवसप्रतिक्रमणं पाक्षिकं वा। उभयं—आलोचन प्रतिक्रमणे। विवेको—द्विप्रकारो गणविवेकः स्थानविवेको वा। तथा व्युत्सर्गः—कायोत्सर्गः। तपोऽनशनादिकं। छेदो—दीक्षायाः पक्षमासादिभिर्हानिः। मूलं—पुनरद्य प्रभृति व्रतारोपणं। अपि च परिहारो द्विप्रकारो गणप्रतिबद्धोऽप्रतिबद्धो वा। यत्र प्रश्रवणादिकं कुर्वन्ति मुनयस्तत्र तिष्ठन्ति पिछिकामग्रतः कृत्वा यतीनां वन्दनां करोति तस्य यतयो न कुर्वन्ति, एवं या गणे क्रिया गणप्रतिबद्धः परिहारः। यत्र देशे धर्मो न ज्ञायते तत्र गत्वा मौनेन तपश्चरणानुष्ठानकरणमगणप्रतिबद्धः परिहारः। तथा श्रद्धानं तत्त्वरुचौ परिणामः क्रोधादिपरित्यागो वा। एतद्दशप्रकारं प्रायश्चित्तं दोषानुरूपं दातव्यमिति। कश्चिद्दोषः आलोचनमात्रेण निराक्रियते। कश्चित्प्रतिक्रमणेन कश्चिदालोचनप्रतिक्रमणाभ्यां कश्चिद्विवेकेन कश्चित्कायोत्सर्गेण कश्चित्तपसा कश्चिच्छेदेन कश्चिन्मूलेन कश्चित्परिहारेण कश्चिच्छ्रद्धानेनेति।।३६२।।

अब प्रायश्चित्त का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त तप है। इस कारण से वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का कहा गया है।।३६१।।

आचारवृत्ति—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्वसंचित पापों से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त है। जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है वह तप भी प्रायश्चित्त कहलाता है। वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का है।

वे दश प्रकार कौन से हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद हैं।।३६२।।

आचारवृत्ति—आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने में उत्पन्न हुए दोषों का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना है। रात्रिभोजनत्याग व्रत सहित पाँच महाव्रतों का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना अथवा दिवस और पाक्षिक सम्बन्धी

प्रायश्चित्तस्य नामानि प्राह—

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंच्छणमुछिवण छिदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाइं।।३६३।।

पुराणस्य कर्मणः क्षपणं विनाशः, क्षेपणं, निर्जरणं, शोधनं, धावनं, पुच्छणं, निराकरणं, उत्क्षेपणं, छेदनं द्वैधीकरणमिति प्रायश्चित्तस्यैतान्यष्टौ नामानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति।।३६३।।

प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को करना तदुभय है। विवेक के दो भेद हैं—गण विवेक और स्थानविवेक। कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते हैं। अनशन आदि तप हैं। पक्ष-मास आदि से दीक्षा की हानि कर देना छेद है। आज से लेकर पुनः व्रतों का आरोपण करना अर्थात् फिर से दीक्षा देना मूल है। परिहार प्रायश्चित्त के भी दो भेद हैं—गणप्रसिद्ध और गण अप्रतिबद्ध। जहाँ मुनिगण मूत्रादि विसर्जन करते हैं, इस प्रायश्चित्त वाला पिच्छिका को आगे करके वहाँ पर रहता है, वह यतियों की वंदना करता है किन्तु अन्य मुनि उसको वन्दना नहीं करते हैं। इस प्रकार से जो गण में क्रिया होती है वह गणप्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त है। जिस देश में धर्म नहीं जाना जाता है वहाँ जाकर मौन से तपश्चरण का अनुष्ठान करते हैं उनके अगणप्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त होता है। तत्त्वरुचि में जो परिणाम होता है अथवा क्रोधादि का त्याग रूप जो परिणाम है वह श्रद्धान प्रायश्चित्त है।

यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त दोषों के अनुरूप देना चाहिए। कुछ दोष आलोचनामात्र से निराकृत हो जाते हैं, कुछ दोष प्रतिक्रमण से दूर किए जाते हैं तो कुछेक दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा नष्ट किए जाते हैं, कई दोष विवेक प्रायश्चित्त से, कई कायोत्सर्ग से, कई दोष तप से, कई दोष छेद से, कई मूल प्रायश्चित्त से, कई परिहार से एवं कई दोष श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त से दूर किए जाते हैं।

विशेष—आजकल 'परिहार' नाम के प्रायश्चित्त को देने की परम्परा नहीं है।

प्रायश्चित के पर्यायवाची नामों को कहते हैं—

गाथार्थ—पुराने कर्मों का क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुंछन, उत्क्षेपण और छेदन ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं।।३६३।।

आचारवृत्ति—पुराने कर्मों का क्षपण—क्षय करना अर्थात् विनाश करना, क्षेपण—दूर करना, निर्जरण—निर्जरा करना, शोधन—शोधन करना, धावन—धोना, पुंछन—

विनयस्य स्वरूपमाह—

दंसणणाणेविणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ।।३६४।।

दर्शने विनयो ज्ञाने विनयश्चारित्रे विनयस्तपसि विनयः औपचारिको विनयः पंचविधः खलु विनयः पंचमीगतिनायकः प्रधानः भणितः प्रतिपादित इति।।३६४।।

दर्शनविनयं प्रतिपादयन्नाह—

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण।।३६५।।

उपगूहनस्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावनाः पूर्वोक्ताः। तथा भक्त्यादयो गुणाः पंचपरमेष्ठिभक्त्यानुरागस्तेषामेव पूजा तेषामेव गुणानुवर्णनं, नाशनमवर्णवादस्यासादनापरिहारो भक्त्यादयो गुणाः। शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसानां वर्जनं परिहारो दर्शनविनयः समासेनेति।।३६५।।

पोछना अर्थात् निराकरण करना, उत्क्षेपण—फेंकना, छेदन—दो टुकड़े करना इस प्रकार ये प्रायश्चित्त के आठ नाम जानने चाहिए।

अब विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तपोविनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय पंचमगति का नायक कहा गया है।।३६४।।

आचारवृत्ति—दर्शन में विनय, ज्ञान में विनय, चारित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय निश्चित रूप से पाँचवीं गति अर्थात् मोक्षगति में ले जाने वाला प्रधान कहा गया है, ऐसा समझना अर्थात् विनय मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है।

दर्शन विनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में कहे गए उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि गुणों को धारण करना और शंकादि दोष का वर्जन करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है।।३६५।।

आचारवृत्ति—उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये पूर्व में कहे गए हैं तथा पंच परमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना, उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके प्रति लगाए गए अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना और उनकी आसादना अर्थात् अवहेलना का परिहार करना—ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और अन्य दृष्टि—मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, इनका त्याग करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो।।३६६।।

येऽर्थपर्याया जीवाजीवादयः सूक्ष्मस्थूलभेदेनोपदिष्टाः स्फुटं जिनवरैः श्रुतज्ञाने द्वादशांगेषु चतुर्दशपूर्वेषु, तान् पदार्थांस्तथैव तेन प्रकारेण याथात्म्येन रोचयति नरो भव्यजीवो येन परिणामेन स एष दर्शनविनयो ज्ञातव्य इति।।३६६।।

ज्ञानविनयं प्रतिपादयन्नाह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अट्ठविहो।।३६७।।

द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां कालशुद्ध्या पठनं व्याख्यानं परिवर्तनं वा। तथा हस्तपादौ प्रक्षाल्य पर्यंकेऽवस्थितस्वाध्ययनं। अवग्रहविशेषेण पठनं। बहुमानं यत्पठति यस्माच्छ्रणोति तयोः पूजागुणस्तवनं। तथैवानिह्नवो यत्पठति यस्मात्पठति तयोः कीर्तनं।

भावार्थ—शंकादि चार दोषों का त्याग, उपगूहन आदि चार अंग जो विधिरूप हैं उनका पालन करना तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि करना यही सब दर्शन की विशुद्धि को करने वाला दर्शन विनय है।

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव ने आगम में निश्चित रूप से जिन द्रव्य और पर्यायों का उपदेश किया है, उनका जो मनुष्य वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शन विनय वाला होता है।।३६६।।

आचारवृत्ति—सूक्ष्म और बादर के भेद से जिन जीव-अजीव आदि पदार्थों का जिनेन्द्रदेव ने द्वादशांग और चतुर्दशपूर्व रूप श्रुतज्ञान में स्पष्ट रूप से उपदेश दिया है, जो भव्य जीव उन पदार्थों का उसी प्रकार से जैसे का तैसा विश्वास करता है तथा जिस परिणाम से श्रद्धान करता है वह परिणाम ही दर्शनविनय है।

ज्ञानविनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—काल, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय—इनमें विनय करना यह ज्ञान सम्बन्धी विनय आठ प्रकार का है।।३६७।।

आचारवृत्ति—द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन—फेरना कालविनय है।

उन्हीं ग्रन्थों का (या अन्य ग्रन्थों का) हाथ पैर धोकर पर्यंकासन से बैठकर अध्ययन करना विनयशुद्धि नाम का ज्ञानविनय है। नियम विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रन्थ नियम से पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु

व्यञ्जनशुद्धं, अर्थशुद्धं व्यञ्जनार्थोभयशुद्धं च यत्पठनं। अनेन न्यायेनाष्टप्रकारो ज्ञाने विनय इति।।३६७।।

तथा—

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो।।३६८।।

ज्ञान शिक्षते विद्योपादानं करोति। ज्ञानं गुणयति परिवर्तनं करोति। ज्ञानं परस्मै उपदिशति प्रतिपादयति। ज्ञानेन करोति न्यायमनुष्ठानं। य एवं करोति ज्ञानविनीतो भवत्येष इति। अथ दर्शनाचारदर्शनविनययोः को भेदस्तथा ज्ञानाचारज्ञानविनययोः कश्चन भेद इत्याशंकायामाह—शंकादिपरिणामपरिहारे यत्नः उपगूहनादिपरिणामानुष्ठाने यत्नः कालादिविनयः, तथा द्रव्यक्षेत्रभावादिविषयश्च यत्नः। ज्ञानाचारः पुनः कालशुद्धयादिषु सत्सु श्रुतं पठनयत्नं। ज्ञानविनयः श्रुतोपकरणेषु च यत्नः श्रुतविनयः। तथापनयति तपसा तमोऽज्ञानं उपनयति च मोक्षमार्गे आत्मानं तपोविनयः नियमितमतिः सोऽपि तपोविनय इति ज्ञातव्य इति।।३६८।।

इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उसी प्रकार से जिस ग्रन्थ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रन्थ या उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिह्नव है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यंजन शुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है और दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभयशुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए।

उसी ज्ञान की विशेषता को कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है। इस प्रकार यह जो करता है वह ज्ञान से विनयी होता है।।३६८।।

आचारवृत्ति—ज्ञान विद्या को प्राप्त कराता है। ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है। ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय सत्प्रवृत्ति करता है जो ऐसा करता है वह ज्ञानविनीत होता है।

प्रश्न—दर्शनाचार और दर्शन विनय में क्या अन्तर है ? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञान विनय में क्या अन्तर है ?

उत्तर—शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान में प्रयत्न करना दर्शनविनय है। पुनः शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है। उसी प्रकार कालशुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न

चारित्रविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

इंदियकसायपणिहाणपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो।।३६९।।

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि कषायाः क्रोधादयः तेषामिन्द्रियकषायाणां प्रणिधानं प्रसरहानिरिन्द्रियकषायप्रणिधानं इन्द्रियप्रसरनिवारणं कषायप्रसरनिवारणं। अथवेन्द्रियकषायाणां अपरिणामस्तद्गतव्यापारनिरोधनं। अपि च गुप्तयो मनोवचनकायशुभप्रवृत्तयः। समितय ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठापनाः। एष चारित्रविनयः समासतः संक्षेपतो भवति ज्ञातव्यः। अत्रापि। समितिगुप्तय आचारः। तद्रक्षणोपाये यत्नश्चारित्रविनय इति।।३६९।।

तपोविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्धा य।
आवासयाणमुचिदाणं अपरिहाणीयणुस्सेहो।।३७०।।

आतापनाद्युत्तरगुणेषूद्योग उत्साहः। सम्यगध्यासनं तत्कृतश्रमस्य निराकुलतया सहनं। तद्गतश्रद्धा—तानुत्तरगुणान् कुर्वतः शोभनपरिणामः। आवश्यकानां समतास्तव-वन्दनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायोत्सर्गाणामुचितानां कर्मक्षयनिमित्तानां परिमितानामपरि-हाणिरनुत्सेधः न हानिः कर्तव्या नापि वृद्धिः। षडेव भावाश्चत्वारः पंच वा न कर्तव्याः।

करना काल आदि विनय हैं तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। कालशुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में अर्थात् ग्रन्थ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुतविनय है।

उसी प्रकार से जो तप से अज्ञान तम को दूर करता है और आत्मा को मोक्षमार्ग के समीप करता है वह तपोविनय है और नियमितमति होना है वह भी तप का विनय है ऐसा जानना चाहिए।

चारित्र विनय का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रिय और कषायों का निग्रह, गुप्तियाँ और समितियाँ संक्षेप से यह चारित्र विनय जानना चाहिए।।३६९।।

आचारवृत्ति—चक्षु आदि इन्द्रियाँ और क्रोधादि कषायों का प्रणिधान—प्रसार की हानि का होना अर्थात् इन्द्रिय के प्रसार का निवारण करना और कषायों के प्रसार का निवारण करना। अथवा इन्द्रिय और कषायों का परिणाम अर्थात् उनमें होने वाले व्यापार का निरोध करना, यह इन्द्रिय कषाय प्रणिधान है। मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति

तथा सप्ताष्टौ न कर्तव्याः। या यस्यावश्यकस्य वेला तस्यामेवासौ कर्तव्यो नान्यस्यां वेलायां हानिं वृद्धिं प्राप्नुयात्। तथा यस्यावश्यकस्य यावन्तः पठिताः कायोत्सर्गास्तावन्त एव कर्तव्या न तेषां हानिर्वृद्धिर्वा कार्या इति।।३७०।।

भत्ती तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्तसाहुस्स।।३७१।।

भक्तिः स्तुतिपरिणामः सेवा वा। तपसाधिकस्तपोऽधिकः तस्मिंस्तपोधिके। आत्मनोऽधिकतपसि तपसि च द्वादशविधतपोऽनुष्ठाने च भक्तिरनुरागः। शेषाणामनुत्कृष्ट-तपसामहेलना अपरिभवः। एष तपसि विनयः सर्वसंयतेषु प्रणामवृत्तिर्यथोक्तचारित्रस्य साधोर्भवति ज्ञातव्य इति।।३७१।।

गुप्तियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उच्चार प्रस्रवण प्रतिष्ठापना ये पाँच समितियाँ हैं। यह सब चारित्र विनय संक्षेप से कहा गया है। यहाँ पर भी समिति और गुप्तियाँ चारित्राचार हैं और उनकी रक्षा के उपाय में जो प्रयत्न है वह चारित्र विनय है।

भावार्थ—इन्द्रियों का निरोध और कषायों का निग्रह होना तथा समिति, गुप्ति की रक्षा में प्रयत्न करना यह सब चारित्रविनय है।

अब तपो विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणों में उत्साह, उनका अच्छी तरह अभ्यास, श्रद्धा, उचित आवश्यकों में हानि या वृद्धि न करना तपोविनय है।।३७०।।

आचारवृत्ति—आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम—उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा—शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षय के लिए निमित्त हैं। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि नहीं करना अर्थात् ये आवश्यक छह ही हैं, इन्हें चार वा पाँच नहीं करना तथा सात या आठ भी नहीं करना। जिस आवश्यक की जो बेला है उसी बेला में वह आवश्यक करना चाहिए अन्य बेला में नहीं अन्यथा हानि-वृद्धि हो जावेगी तथा जिस आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग बताए गए हैं उतने ही करना चाहिए, उनकी हानि या वृद्धि नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—उत्तर गुणों के धारण करने में उत्साह रखना, उनका अभ्यास करना और उनके करने वालों में आदर भाव रखना तथा आवश्यक क्रियाओं को आगम की कथित विधि से उन्हीं-उन्हीं के काल में कायोत्सर्ग की गणना से करना यह सब तपोविनय है। जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति में १०८ उच्छ्वासपूर्वक ३६ कायोत्सर्ग,

पंचमौपचारिकविनयं प्रपंचयन्नाह—

काइयवाइयमाणसिओ त्ति अ तिविहो दु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य।।३७२।।

काये भवः कायिकः। वाचि भवो वाचिकः। मनसि भवो मानसिकः। त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तु पंचमो विनयः। स्वर्गमोक्षादीन् विशेषेण नयतीति विनयः। कायाश्रयो वागाश्रयो मानसाश्रयश्चेति। स पुनः सर्वोऽपि कायिको वाचिको मानसिकश्च द्विविधो द्विप्रकारः प्रत्यक्षश्चैव परोक्षश्च। गुरोः प्रत्यक्षश्चक्षुरादिविषयः। चक्षुरादिविषया-दतिक्रान्तः परोक्ष इति।।३७२।।

रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वासपूर्वक १८ कायोत्सर्ग, देववंदना में चैत्य, पंचगुरुभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग इत्यादि कहे गए हैं सो उतने प्रमाण से विधिवत् करना।

गाथार्थ—तपोधिक साधु में और तप में भक्ति रखना तथा और दूसरे मुनियों की अवहेलना नहीं करना, आगम में कथित चारित्र वाले साधु का यह तपोविनय है।।३७१।।

आचारवृत्ति—जो तपश्चर्या में अपने से अधिक हैं वे तपोधिक होते हैं। उनमें तथा बारह प्रकार के तपश्चरण के अनुष्ठान में भक्ति अर्थात् अनुराग रखना। स्तुति के परिणाम को अथवा सेवा को भक्ति कहते हैं सो इनकी भक्ति करना। शेष जो मुनि अनुत्कृष्ट तप वाले हैं अर्थात् अधिक तपश्चरण नहीं करते हैं उनका तिरस्कार—अपमान नहीं करना। संयतों में प्रणाम की वृत्ति होना, यह सब तपोविनय है जो कि आगमानुकूल चारित्रधारी साधु के होता है।

पाँचवें औपचारिक विनय का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार पाँचवाँ औपचारिक विनय तीन भेद रूप है, पुनः वह तीन भेद रूप विनय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष की अपेक्षा से दो प्रकार का है।।३७२।।

आचारवृत्ति—काय से होने वाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो स्वर्ग, मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप है। वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के भी तीन भेद हैं और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष में हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर हैं तब उनकी विनय प्रत्यक्ष विनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्षविनय है।

कायिकविनयस्वरूपं दर्शयन्नाह—

अब्भुट्ठाणं किदिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं।
पच्चूगच्छणमेत्ते पछिदस्सणुसाहणं चेव।।३७३।।

अभ्युत्थानमादरेणासनादुत्थानं। क्रियाकर्म सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गादिकरणं। नमनं शिरसा प्रणामः। अञ्जलिना करकुंडलेनाञ्जलिकरणं वा मुण्डानामृषीणां। अथवा मुण्डा सामान्यवन्दना। पच्चूगच्छणमेत्ते—आगच्छतः प्रतिगमनमभिमुखयानं। प्रस्थितस्य प्रयाणके व्यवस्थितस्यानुसाधनं चानुव्रजनं च साधूनामादरः कार्यः। तथा तेषामेव क्रियाकर्म कर्तव्यम्। तथा तेषामेव कृताञ्जलिपुटेन नमनं कर्त्तव्यं। तथा साधोरागतः प्रत्यभिमुखगमनं कर्तव्यं तथा तस्यैव प्रस्थितस्यानुव्रजनं कर्तव्यमिति।।३७३।।

कायिक विनय का स्वरूप दिखलाते हैं—

गाथार्थ—केशलोंच से मुण्डित हुए अतः जो मुण्डित कहलाते हैं ऐसे मुनियों के लिए उठकर खड़े होना, भक्तिपाठपूर्वक वन्दना करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आते हुए के सामने जाना और प्रस्थान करते हुए के पीछे-पीछे चलना।।३७३।।

आचारवृत्ति—मुण्ड अर्थात् ऋषियों को सामने देखकर आदरपूर्वक आसन से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके वन्दना करना, अंजलि जोड़कर शिर झुकाकर नमस्कार करना नमन है। यहाँ मुण्ड का अर्थ ऋषि है अथवा 'मुण्ड' का अर्थ सामान्य वन्दना है अर्थात् भक्तिपाठ के बिना नमस्कार करना मुण्ड-वन्दना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करने वाले के पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिए। उनके प्रति भक्तिपाठ करते हुए कृतिकर्म करना चाहिए तथा उन्हें अंजलि जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। साधुओं के आते समय सन्मुख जाकर स्वागत करना चाहिए और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे जाना चाहिए।

गाथार्थ—गुरुओं से नीचे खड़े होना, नीचे अर्थात् पीछे चलना, नीचे बैठना, नीचे स्थान में सोना, गुरु को आसन देना, उपकरण देना और ठहरने के लिए स्थान देना—यह सब कायिक विनय है।।३७४।।

आचारवृत्ति—देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना (विनय से एक तरफ खड़े होना), गुरु के साथ चलते समय उनके बाएँ चलना या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ, पाटे आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि

तथा—

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं।
आसणदाणं उवगरणदाण ओगासदाणं च।।३७४।।

देवगुरुभ्यः पुरतो नीचं स्थानं वामपार्श्वे स्थानं। नीचं च गमनं गुरोर्वामपार्श्वे पृष्ठतो वा गन्तव्यं। नीचं च न्यग्भूतं चासनं पीठादिवर्जनं। गुरोरासनस्य पीठादिकस्य दानं निवेदनं। उपकरणस्य पुस्तिकाकुंडिकापिच्छिकादिकस्य प्रासुकस्यान्विष्य दानं निवेदनं। अथवा नीचं स्थानं करचरणसंकुचितवृत्तिर्गुरोः सधर्मणोऽन्यस्य वा व्याधितस्येति।।३७४।।

तथा—

पडिरूवकायसंफासणदा य पडिरूपकालकिरिया य।
पेसणकरणं संथरकरणं उवकरण पडिलिहणं।।३७५।।

प्रतिरूपं शरीरबलयोग्यं कायस्य शरीरस्य संस्पर्शनं मर्दनमभ्यंगनं वा। प्रतिरूपकालक्रिया चोष्णकाले शीतक्रिया शीतकाले उष्णक्रिया वर्षाकाले तद्योग्यक्रिया। प्रेष्यकरणं—आदेशकरणं। संस्तरकरणं पट्टकादिप्रस्तरणं। उपकरणानां पुस्तिकाकुण्डिकादीनां प्रतिलेखनं सम्यग्निरूपणम् ।।३७५।।

देना, उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिए निवेदन करना। अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु, सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधिग्रसित मुनि के प्रति हाथ-पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनम्रता रखना।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—गुरु के अनुरूप उनके अंग का मर्दनादि करना, उनके अनुरूप और काल के अनुरूप क्रिया करना, आदेश पालन करना, उनके संस्तर लगाना तथा उपकरणों का प्रतिलेखन करना।।३७५।।

आचारवृत्ति—गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्ण काल में शीत क्रिया, शीतकाल में उष्णक्रिया करना और वर्षाकाल में उस ऋतु के योग्य क्रिया करना अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनकी प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना; उनके

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण।
एसा काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स।।३७६।।

इत्येवमादिरूपकारो गुरोरन्यस्य वा साधुवर्गस्य यः शरीरेण क्रियते यथायोग्यं स एष कायिको विनयः कायाश्रितत्वादिति।।३७६।।

वाचिकविनयस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं।।३७७।।

पूजावचनं बहुवचनोच्चारणं यूयं भट्टारका इत्येवमादि। हितस्य पथ्यस्य भाषणं इहलोकपरलोकधर्मकारणं वचनं। मितस्य परिमितस्य भाषणं चाल्पाक्षरबह्वर्थं। मधुरं च मनोहरं श्रुतिसुखदं। सूत्रानुवीचिवचनमागमदृष्ट्या भाषणं यथा पापं न भवति। अनिष्ठुरं दग्धमृतप्रलीनेत्यादिशब्दै रहितं। अकर्कशं वचनं च वर्जयित्वा वाच्यमिति।।३७७।।

लिए संस्तर अर्थात् चटाई, घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

गाथार्थ—साधुवर्ग का इसी प्रकार से और भी जो उपकार यथायोग्य अपने शरीर के द्वारा किया जाता है यह सब कायिक विनय है।।३७६।।

आचारवृत्ति—इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है; क्योंकि वह काय के आश्रित है।

वाचिक विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पूजा के वचन, हित वचन, मितवचन और मधुर वचन, सूत्रों के अनुकूल वचन, अनिष्ठुर और कर्कशतारहित वचन बोलना वाचिक विनय है।।३७७।।

आचारवृत्ति—'आप भट्टारक!' इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पूजा वचन है। हित—पथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के कारणभूत वचन हितवचन हैं। मित—परिमित बोलना, जिसमें अल्प अक्षर हों किन्तु अर्थ बहुत हो मित वचन हैं। मधुर—मनोहर अर्थात् कानों को सुखदायी वचन मधुर वचन हैं। आगम के अनुकूल बोलना कि जिस प्रकार से पाप न हो सूत्रानुवीचि वचन हैं। तुम जलो मरो, प्रलय को प्राप्त हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्ठुर वचन हैं और कठोरतारहित वचन अकर्कश वचन हैं अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो।।३७८।।

उपशान्तवचनं क्रोधमानादिरहितं। अगृहस्थवचनं गृहस्थानां मकारवकारादि यद्वचनं तेन रहितं बन्धनत्रासनताडनादिवचनरहितं। अकिरियं असिमसिकृष्यादिक्रिया (दि) रहितं अथवा सक्रियमिति पाठः। सक्रियं क्रियायुक्तमन्यच्चिन्तान्यदोषयोरिति न वाच्यं, तदुच्यते यन्निष्पाद्यते। अहीलं—अपरिभवचनं। इत्येवमादिवचनं यत्र स एष वाचिको विनयो यथायोग्यं भवति कर्तव्य इति।।३७८।।

मानसिकविनयस्वरूपमाह—

पापविसोत्तिअपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ।।३७९।।

पापविश्रुतिपरिणामवर्जनं पापं हिंसादिकं विश्रुतिः सम्यग्विराधना तयोः परिणामस्तस्य वर्जनं परिहारः। प्रिये धर्मोपकारे हिते च सम्यग्ज्ञानादिके च परिणामो ज्ञातव्यः। संक्षेपेण स एष मानसिकश्चित्तोद्भवो विनय इति।।३७९।।

गाथार्थ—कषायरहित वचन, गृहस्थी सम्बन्ध से रहित वचन, क्रियारहित और अवहेलना रहित वचन बोलना—यह वाचिक विनय है जिसे यथायोग्य करना चाहिए।।३७८।।

आचारवृत्ति—क्रोध, मान आदि से रहित वचन उपशान्त वचन हैं। गृहस्थों के जो मकार-वकार आदि रूप वचन हैं उनसे रहित वचन तथा बन्धन, त्रासन, ताडन आदि से रहित वचन अगृहस्थ वचन हैं। असि, मषि, कृषि आदि क्रियाओं से रहित वचन अक्रियवचन हैं। अथवा 'सक्रियं' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना किन्तु अन्य की चिन्ता और अन्य के दोषरूप वचन नहीं बोलना चाहिए। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिए। किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नहीं बोलना अहीलन वचन हैं। और भी ऐसे ही वचन जहाँ होते हैं वह सब वाचिक विनय है जो कि यथायोग्य करना चाहिए।

मानसिक विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पापविश्रुत के परिणाम का त्याग करना और प्रिय तथा हित में परिणाम करना संक्षेप से यह मानसिक विनय है।।३७९।।

आचारवृत्ति—हिंसादि को पाप कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना को विश्रुति कहते हैं। इन पाप और विराधनाविषयक परिणामों का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिए हित संज्ञा है। इन प्रिय और हित में परिणाम को लगाना। संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होने वाला मानसिक विनय कहलाता है।

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओवि जं गुरुणो।
विरहम्मिवि वट्टिज्जदि आणाणिद्देसचरियाए।।३८०।।

इत्येष प्रत्यक्षविनयः कायिकादिः, गुर्वादिषु सत्सु वर्तते यतः, पारोक्षिकोऽपि विनयो यद्गुरोर्विरहेऽपि गुर्वादिषु परोक्षीभूतेषु यद्वर्तते। आज्ञानिर्देशेन चर्याया वार्हद्भट्टारकोपदिष्टेषु जीवादिपदार्थेषु श्रद्धानं कर्तव्यं तथा तैर्या चर्योद्दिष्टा व्रतसमित्यादिका तया च वर्तनं परोक्षो विनयः। तेषां प्रत्यक्षतो यः क्रियते स प्रत्यक्षमिति।।३८०।।

पुनरपि त्रिविधं विनयमन्येन प्रकारेणाह—

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहा समासदो भणिओ।
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए।।३८१।।

अथौपचारिको विनय उपकारे धर्मादिकपरचित्तानुग्रहे भव औपचारिकः खलु स्फुटं त्रिविधस्त्रिप्रकारः कायिकवाचिकमानसिकभेदेन समासतः संक्षेपतो भणितः

गाथार्थ—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है तथा जो गुरु के न होने पर भी उनकी आज्ञा, निर्देश और चर्या में रहता है उसके परोक्ष सम्बन्धी विनय होता है।।३८०।।

आचारवृत्ति—यह सब ऊपर कहा गया कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योंकि यह गुरु के रहते हुए उनके पास में किया जाता है। और गुरुओं के विरह में—उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर हैं उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्या करने से होता है अथवा अर्हन्त भट्टारक द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थों में श्रद्धान करना तथा उनके द्वारा जो भी व्रत, समिति आदि चर्याएँ कही गई हैं, उन रूप प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है अर्थात् उनके प्रत्यक्ष में किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष में किया गया नमस्कार, आज्ञा पालन आदि विनय परोक्ष विनय है।

पुनः इन्हीं तीन प्रकार की विनय को अन्य रूप से कहते हैं—

गाथार्थ—यह औपचारिक विनय संक्षेप से कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसा तीन प्रकार से कहा गया है। वह क्रम से सात भेद, चार भेद और दो भेदरूप जानना चाहिए।।३८१।।

आचारवृत्ति—जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करने वाला होता है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है। उसमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गए हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है, वाचिक विनय चार प्रकार का है और मानसिक विनय दो प्रकार का है।

कथितः। सप्तविधश्चतुर्विधो द्विविधो बोद्धव्यः। आनुपूर्व्यानुक्रमेण कायिकः सप्तप्रकारो वाचिकश्चतुर्विधः मानसिको द्विविध इति।।३८१।।

कायिकविनयं सप्तप्रकारमाह—

अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं।।३८२।।

अभ्युत्थानम् आदरेणोत्थानं। सन्नतिः शिरसा प्रणामः। आसनदानं पीठाद्युपनयनं। अनुप्रदानं च पुस्तकपिच्छिकाद्युपकरणदानं। क्रियाकर्म श्रुतभक्त्यादिपूर्वककायोत्सर्गः प्रतिरूपं यथायोग्यं, अथवा शरीरप्रतिरूपं कालप्रतिरूपं भावप्रतिरूपं च क्रियाकर्म शीतोष्णमूत्रपुरीषाद्यपनयनं। आसनपरित्यागो गुरोः पुरत उच्चस्थाने न स्थातव्यं। अनुव्रजनं प्रस्थितेन सह किंचिद्गमनमिति। अभ्युत्थानमेकः सन्नतिर्द्वितीय आसनदानं तृतीयः अनुप्रदानं चतुर्थः प्रतिरूपक्रियाकर्म पंचमः आसनत्यागः षष्ठोऽनुव्रजनं सप्तमः प्रकारः कायिकविनयस्येति।।३८२।।

कायिक विनय के सात प्रकार को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरुओ को आते हुए देखकर उठकर खड़े होना, उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उपकरणादि देना, भक्ति पाठ आदि पढ़कर वन्दना करना या उनके अनुकूल क्रिया करना, आसन को छोड़ देना और जाते समय उनके पीछे जाना ये सात भेदरूप कायिक विनय है।।३८२।।

आचारवृत्ति—अभ्युत्थान—गुरुओं को सामने आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना। सन्नति—शिर से प्रणाम करना। आसनदान—पीठ, काष्ठासन, पाटा आदि देना। अनुप्रदान—पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना। प्रतिरूप क्रियाकर्म— यथायोग्य श्रुतभक्ति आदिपूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना अथवा गुरुओं के शरीर के प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा-शुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना; जैसे कि शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि। आसनत्याग—गुरु के सामने उच्चस्थान पर नहीं बैठना। अनुव्रजन—उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना। इस प्रकार से (१) अभ्युत्थान, (२) सन्नति, (३) आसनदान, (४) अनुप्रदान, (५) प्रतिरूपक्रियाकर्म, (६) आसनत्याग और (७) अनुव्रजन—ये सात प्रकार कायिक विनय के होते हैं।

वाचिकमानसिकविनयभेदानाह—

हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभाषणं च बोधव्वं।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव।।३८३।।

हितभाषणं मितभाषणं परिमितभाषणमनुवीचिभाषणं च। हितं धर्मसंयुक्तं। मितमल्पाक्षरं बह्वर्थं। परिमितं कारणसहितं। अनुवीचीभाषणमागमाविरुद्धवचनं चेति चतुर्विधो वचनविनयो ज्ञातव्यः। तथाऽकुशलमनसो रोधः पापादानकारकचित्तनिरोधः। कुशलमनसो धर्मप्रवृत्तचित्तस्य प्रवर्तकश्चेति द्विविधो मनोविनय इति।।३८३।।

स एवं द्विविधो विनयः साधुवर्गेण कस्य कर्तव्य इत्याशंकायामाह—

रादिणिए उगरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण।।३८४।।

रादिणिए–रात्र्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोधिके च। उणरादिणिएसु य—ऊनरात्रिकेषु च तपसा कनिष्ठेषु गुणकनिष्ठेषु वयसा कनिष्ठेसु च साधुषु। अज्जासु—आर्यिकासु। गिहिवग्गे—गृहिवर्गे श्रावकलोके च। विनयो यथार्हो यथायोग्यः कर्तव्यः।

वाचिक और मानसिक विनय के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—हितवचन, मितवचन, परिमितवचन और सूत्रानुसार वचन, इन्हें वाचिक विनय जानना चाहिए। अशुभ मन को रोकना और शुभ मन की प्रवृत्ति करना ये दो मानसिक विनय हैं।।३८३।।

आचारवृत्ति—हित भाषण—धर्मसंयुक्त वचन बोलना, मित भाषण—जिसमें अक्षर अल्प हों अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण—कारण सहित वचन बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन के नहीं बोलना, अनुवीचिभाषण—आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आस्रव करने वाले अशुभ मन का रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म में चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है।

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दोनों प्रकार का विनय साधुओं को किनके प्रति करना चाहिए ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक रात्रि भी अधिक गुरु में, दीक्षा में एक रात्रि न्यून भी मुनि में, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमादी मुनि को यथायोग्य यह विनय करना चाहिए।।३८४।।

आचारवृत्ति—जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक गुरु हैं। यहाँ रात्र्यधिक शब्द से दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु और तप में अपने से बड़े गुरुओं को लिया है। जो दीक्षा में एक रात्रि भी छोटे हैं वे ऊनरात्रिक कहलाते हैं। यहाँ पर ऊनरात्रिक से जो तप

अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन। साधूनां यो योग्यः आर्यिकाणां यो योग्यः, श्रावकाणां यो योग्यः, अन्येषामपि यो योग्यः स तथा कर्तव्यः, केन ? साधुवर्गेणाप्रमत्तेनात्मतपोऽनुरूपेण प्रासुकद्रव्यादिभिः स्वशक्त्या चेति।

किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं।।३८५।।

विनयेन विप्रहीणस्य विनयरहितस्य भवति शिक्षा श्रुताध्ययनं निरर्थिका विफला सर्वा सकला विनयः पुनः शिक्षा या विद्याध्ययनस्य फलं, विनयफलं सर्वकल्याणान्यभ्युदयनिःश्रेयससुखानि। अथवा स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणादीनि कल्याणादीनीति।।३८५।।

में कनिष्ठ—लघु हैं, गुणों में लघु हैं और आयु में लघु हैं उन साधुओं को लिया है। इस प्रकार से दीक्षा आदि बड़े गुरुओं में, अपने से छोटे मुनियों में, आर्यिकाओं में और श्रावक वर्गों में प्रमादरहित मुनि को यथायोग्य विनय करना चाहिए अर्थात् साधुओं के जो योग्य हो, आर्यिकाओं के जो योग्य हो, श्रावकों के जो योग्य हो और अन्यों के भी जो योग्य हो वैसा ही करना चाहिए। किसको ? प्रमादरहित हुए साधु को अपने तप अर्थात् अपने व्रतों के, अपने पद के अनुरूप ही प्रासुक द्रव्यादि के द्वारा अपनी शक्ति से उन सबका विनय करना चाहिए।

विशेष—यहाँ पर जो मुनियों द्वारा आर्यिकाओं की और गृहस्थों की विनय का उपदेश है सो नमस्कार नहीं समझना, प्रत्युत् यथायोग्य शब्द से समझना कि मुनिगण आर्यिकाओं का भी यथायोग्य आदर करें, श्रावकों का भी यथायोग्य आदर करें क्योंकि 'यथायोग्य' पद उनके अनुरूप अर्थात् पदस्थ के अनुकूल विनय का वाचक है। उससे आदर, सन्मान और बहुमान ही अर्थ सुघटित है।

विनय किसलिए किया जाता है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है।।३८५।।

आचारवृत्ति—विनय से रहित साधु का सम्पूर्ण श्रुत का अध्ययन निरर्थक है। विद्याअध्ययन का फल विनय है और अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूप सर्व कल्याण को प्राप्त कर लेना विनय का फल है अथवा स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञानोत्पत्ति और परिनिर्वाण ये पाँच कल्याणक आदि कल्याणों की प्राप्ति का होना भी विनय का फल है।

विनयस्तवमाह—

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य।।३८६।।

विनयो मोक्षस्य द्वारं प्रवेशकः। विनयात्संयमः। विनयात्तपः। विनयाच्च ज्ञानं। भवतीति सम्बन्धः। विनयेन चाराध्यते आचार्यः सर्वसंघश्चापि।।३८६।।

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्जंजा।
अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्हादकरणं चं।।३८७।।

आचारस्य गुणा जीदप्रायश्चित्तस्य कल्पप्रायश्चित्तस्य गुणास्तद्गतानुष्ठानानि तेषां दीपनं प्रकटनं। आत्मशुद्धिश्चात्मकर्मनिर्मुक्तिः। निर्द्वन्द्वः कलहाद्यभावः। ऋजोर्भाव आर्जवं स्वस्थता, मृदो भावो मार्दवं मायामानयोर्निरासः। लघोर्भावो लाघवं निःसंगता लोभनिरासः। भक्तिर्गुरुसेवा। प्रह्लादकरणं च सर्वेषां सुखोत्पादनं। यो विनयं करोति तेनाचरजीदकल्पविषया ये गुणास्ते दीपिता उद्योतिता भवंति। आर्जव-मार्दवलाघवभक्तिप्रह्लादकरणानि च भवंति विनयकर्तुरिति।।३८७।।

अब विनय की स्तुति करते हैं—

गाथार्थ—विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है। विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है।।३८६।।

आचारवृत्ति—विनय मोक्ष का द्वार है अर्थात् मोक्ष में प्रवेश कराने वाला है। विनय से संयम होता है, विनय से तप होता है और विनय से ज्ञान होता है। विनय से आचार्य और सर्वसंघ आराधित किए जाते हैं अर्थात् अपने ऊपर अनुग्रह करने वाले हो जाते हैं।

गाथार्थ—विनय से आचार, जीद, कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्मशुद्धि, निर्द्वंद्वता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आह्लादगुण प्रकट होते हैं।।३८७।।

आचारवृत्ति—विनय से आचार के गुण, जीदप्रायश्चित्त और कल्पप्रायश्चित्त के गुण तथा उनमें कहे हुए का अनुष्ठान, इन गुणों का दीपन अर्थात् प्रकटन होता है। विनय से आत्मशुद्धि अर्थात् आत्मा की कर्मों से निर्मुक्ति होती है, निर्द्वंद्व—कलह आदि का अभाव हो जाता है। आर्जव—स्वस्थता आती है, मृदु का भाव मार्दव अर्थात् माया और मान का निरसन हो जाता है, लघु का भाव लाघव—निःसंगपना होता है अर्थात् लोभ का अभाव हो जाने से भारीपन का अभाव हो जाता है। भक्ति—गुरु के प्रति भक्ति होने से गुरु सेवा भी होती है और विनय से प्रह्लादकरण—सभी में सुख का उत्पन्न करना आ जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विनय करता है उसके उस विनय के द्वारा

कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।।३८८।।

कीर्तिः सर्वव्यापी प्रतापः ख्यातिश्च। मैत्री सर्वैः सह मित्रभावः। मानस्य गर्वस्य भंजनमामर्दनं। गुरुजने च बहुमानं पूजाविधानं। तीर्थंकराणामाज्ञा पालिता भवति। गुणानुमोदश्च कृतो भवति। एते विनयगुणा भवन्तीति। विनयस्य कर्ता कीर्तिं लभते। तथा मैत्रीं लभते। तथात्मनो मानं निरस्यति। गुरुजनेभ्यो बहुमानं लभते। तीर्थकराणामाज्ञां च पालयति। गुणानुरागं च करोतीति।।३८८।।

वैयावृत्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए।।३८९।।

आचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरेषु पंचसु। बाला नवकप्रव्रजिताः। वृद्धा वयोवृद्धास्तपोवृद्धा गुणवृद्धास्तैराकुलो गच्छस्तथैव बालवृद्धाकुले गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने। वैयावृत्यमुक्तं यथोक्तं कर्तव्यं सर्वशत्क्या सर्वसामर्थ्येन उपकरणाहारभैषजपुस्तकादिभिरुपग्रहः कर्तव्य इति।।३८९।।

आचार, जीद और कल्पविषयक जो गुण हैं वे उद्योतित होते हैं। आर्जव, मार्दव, लाघव, भक्ति और आल्हादकरण ये गुण विनय करने वाले में प्रकट हो जाते हैं।

गाथार्थ—कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं।।३८८।।

आचारवृत्ति—विनय से सर्वव्यापी प्रताप और ख्याति रूप कीर्ति होती है। सभी के साथ मित्रता होती है, गर्व का मर्दन होता है, गुरुजनों में बहुमान अर्थात् पूजा या आदर मिलता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और गुणों की अनुमोदना की जाती है। ये सब विनय के गुण हैं। तात्पर्य यह है कि विनय करने वाला मुनि कीर्ति को प्राप्त होता है, सबसे मैत्री भाव को प्राप्त हो जाता है, अपने मान का अभाव करता है, गुरुजनों से बहुमान पाता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करता है और गुणों में अनुराग करता है।

अब वैयावृत्त्य का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—आचार्य आदि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्त्य को कहा गया है सो सर्वशक्ति से करनी चाहिए।।३८९।।

आचारवृत्ति—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर ये पाँच हैं। नवदीक्षित को बाल कहते हैं। वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध लिए गए हैं। सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं। इन आचार्य आदि पाँच

पुनरपि विशेषार्थं श्लोकेनाह—

गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।
साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि।।३९०।।

गुणैरधिको गुणाधिकस्तस्मिन् गुणाधिके। उपाध्याये श्रुतगुरौ। तपस्विनि कायक्लेशपरे। शिक्षके शास्त्रशिक्षणतत्परे दुःशीले या दुर्बले व्याध्याक्रान्ते वा। साधुगणे ऋषियतिमुन्यनगारेषु। कुले शुक्रकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने। संघे चातुर्वर्ण्ये श्रवणसंघे। समनोज्ञे सुखासीने सर्वोपद्रवरहिते। आपदि चोपद्रवे संजाते वैयावृत्यं कर्तव्यमिति।।३९०।।

कैः कृत्वा वैयावृत्यं कर्तव्यमित्याह—

सेज्जोग्गासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणा हि उवग्गहिदे।
आहारोसहवायण विकिंचणंवंदणादीहिं।।३९१।।

प्रकार के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिए अर्थात् अपनी सर्व सामर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि, पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए।

भावार्थ—तप और त्याग में आचार्यों ने शक्ति के अनुसार करना कहा है किन्तु वैयावृत्ति में सर्वशक्ति से करने का विधान है। इससे वैयावृत्ति के विशेष महत्त्व को सूचित किया गया है।

पुनरपि विशेष अर्थ के लिए आगे के श्लोक (गाथा) द्वारा कहते हैं—

गाथार्थ—गुणों से अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञतासहित मुनियों पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिए।।३९०।।

आचारवृत्ति—गुणाधिक—अपनी अपेक्षा जो गुणों में बड़े हैं, उपाध्याय—श्रुतगुरु, तपस्वी कायक्लेश में तत्पर, शिक्षक—शास्त्र के शिक्षण में तत्पर, दुर्बल—दुःशील अर्थात् दुष्ट परिणाम वाले अथवा व्याधि से पीड़ित, साधुगण—ऋषि, यति, मुनि और अनगार, कुल—गुरुकुल—परम्परा, संघ—चतुर्विध श्रमण संघ, समनोज्ञ—सुख से आसीन या सर्वोपद्रव से रहित ऐसे साधुओं पर आपत्ति या उपद्रव के आने पर वैयावृत्ति करना चाहिए।

विशेष—यहाँ पर कुल का अर्थ गुरुकुल परम्परा से है। तीन पीढ़ी की मुनिपरम्परा को कुल तथा सात पीढ़ी की मुनिपरम्परा को गच्छ कहते हैं। 'मूलाचार-प्रदीप' (अध्याय ७, गाथा ६८-६९) के अनुसार, जिस मुनि संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणाधीश ये पाँच हों उस संघ की कुल संज्ञा है।

शय्यावकाशो वसतिकावकाशदानं निषद्याऽऽसनादिकं। उपधिः कुण्डिकादि। प्रतिलेखनं पिच्छिकादिः। इत्येतैरुपग्रह उपकारः। अथवैतैरुपगृहीते स्वीकृते। तथाहारौषध-वाचनाव्याख्यानविकिंचनमूत्रपुरीषादिव्युत्सर्गवन्दनादिभिः। आहारेण भिक्षाचर्यया। औषधेन शुंठिपिप्पल्यादिकेन। शास्त्रव्याख्यानेन। च्युतमलनिर्हरणेन। वन्दनया च। शय्यावकाशेन निषद्ययोपधिना प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकारः कर्तव्यः। एतैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति।।३९१।।

केषु स्थानेषूपकारः क्रियतेऽत आह—

अद्धाणतेणविदरायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं।।३९२।।

क्या करके वैयावृत्ति करना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनका प्रतिलेखन द्वारा उपकार करना, आहार, औषधि आदि से; मलादि दूर करने से और उनकी वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए।।३९१।।

आचारवृत्ति—शय्यावकाश—मुनियों को वसतिका का दान देना, निषद्या—मुनियों को आसन आदि देना, उपधि—कमण्डलु आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन—पिच्छिका आदि देना, इन कार्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए अथवा इनके द्वारा उपकार करके उन्हें स्वीकार करना। आहारचर्या द्वारा, सोंठ, पिप्पल आदि औषधि द्वारा, शास्त्र-व्याख्यान द्वारा, कदाचित् मल-मूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने द्वारा और वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वसतिका दान, आसनदान, उपकरणदान, प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए। इन उपकारों से वे अपने किए जाते हैं।

किन स्थानों में उपकार करना ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—मार्ग, चोर, हिंस्रजन्तु, राजा, नदी का रोध और मारी के प्रसंग में, दुर्भिक्ष में, सारक्षण से सहित वैयावृत्ति करना चाहिए।।३९२।।

आचारवृत्ति—मार्ग में चलने से जो थक गए हैं, जिन पर चोरों ने उपद्रव किया है, सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से जिनको कष्ट हुआ है, राजा ने जिनको पीड़ा दी है, नदी की रुकावट से जिनको बाधा हुई है, अशिव अर्थात् मारी रोग आदि से जो पीड़ित हैं, दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं ऐसे साधु यदि अपने संघ में आए हैं तो उनका संग्रह करना चाहिए। जिनका संग्रह किया है उनकी रक्षा करनी चाहिए। इसका ऐसा सम्बन्ध करना

अध्वनि श्रान्तस्य। स्तेनैश्चौरैरुपद्रुत तस्य। श्वापदैः सिंहव्याघ्रादिभिः परिभूतस्य। राजभिः खंचितस्य। नदीरोधेन पीडितस्य। अशिवेन मारिरोगादिव्यथितस्य। ओमे-दुर्भिक्षपीडितस्य। वैयावृत्यमुक्तं संग्रहसारक्षणोपेतं। तेषामागतानां संग्रहः कर्तव्यः। संगृहीतस्य रक्षणं कर्तव्यं। अथचैवं सम्बन्धः कर्तव्यः। एतेषु प्रदेशेषु संग्रहोपेतं सारक्षणोपेतं च वैयावृत्यं कर्तव्यमिति। अथवा रोधशब्दाः प्रत्येक मभिसम्बध्यते। पथिरोधश्चौररोधः श्वापदरोधः राजरोधो नदीरोध एतेषु रोधेषु तथा अशिवे दुर्भिक्षे च वैयावृत्यं कर्तव्यमिति।।३९२।।

स्वाध्यायस्वरूपमाह—

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ।।३९३।।

परिवर्तनं पठितस्य ग्रन्थस्यानुवेदनं। वाचना शास्त्रस्य व्याख्यानं। पृच्छना शास्त्रश्रवणं। अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादि। धर्मकथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानि। स्तुतिर्मुनिदेववन्दना मंगल इत्येवं संयुक्तः पंचप्रकारो भवति स्वाध्यायः। परिवर्तनमेको वाचना द्वितीयः पृच्छना तृतीयोऽनुप्रेक्षा चतुर्थो धर्मकथास्तुतिमंगलानि समुदितानि पंचमः प्रकारः। एवं पंचविधः स्वाध्यायः सम्यग्युक्तोऽनुष्ठेय इति।।३९३।।

कि इन स्थानों में संग्रह से सहित और उनकी रक्षा से सहित वैयावृत्य करना चाहिए। अथवा रोध शब्द को प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे मार्ग में जिन्हें रोका गया हो, चोरों ने रोक लिया है, हिंस्र जन्तुओं ने रोक लिया हो, राजा ने रुकावट डाली हो, नदी से रुकावट हुई हो तो ऐसे रोध के प्रसंग में तथा दुःख में दुर्भिक्ष में वैयावृत्ति करना चाहिए।

स्वाध्याय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति-मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए।।३९३।।

आचारवृत्ति—पढ़े हुए ग्रन्थ को पुनः-पुनः पढ़ना या रटना परिवर्तन है। शास्त्र का व्याख्यान करना वाचना है। शास्त्र का श्रवण करना पृच्छना है। अनित्यत्व आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र पढ़ना धर्मकथा है। स्तुति—मुनि वन्दना, देव-वन्दना, और मंगल इनसे संयुक्त स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि (१) परिवर्तन, (२) वाचना, (३) पृच्छना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) समूहरूप धर्मकथा स्तुतिमंगल—इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए।

ध्यानस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि।।३९४।।

आर्तध्यानं रौद्रध्यानेन सहितं। एते द्वे ध्याने अप्रशस्ते नरकतिर्यग्गतिप्रापके। धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके। इत्येवंविधानि ज्ञातव्यानि। एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति।।३९४।।

आर्तध्यानस्य भेदानाह—

अमणुण्णजोगइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण।।३९५।।

अमनोज्ञेन ज्वरशूलशत्रुरोगादिना योगः सम्पर्कः। इष्टस्य पुत्रदुहितृमातृपितृबन्धु-शिष्यादिकस्य वियोगोऽभावः। परीषहाः सुत्तृट्छीतोष्णादयः। निदानकरणं इहलोकपरलोकभोगविषयोऽभिलाषः। इत्येतेषु प्रदेशेष्वार्तमनःसंक्लेशः कषायसहितं ध्यानं भणितं समासेन संक्षेपतः। कदा ममानेनामनोज्ञेन वियोगो भविष्यतीत्येवं

ध्यान का स्वरूप वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—आर्त और रौद्र सहित दो ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान हैं ऐसा जानना चाहिए।।३९४।।

आचारवृत्ति—आर्तध्यान और रौद्र ध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। ये नरकगति और तिर्यंचगति को प्राप्त कराने वाले हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त हैं। ये देवगति और मुक्ति को प्राप्त कराने वाले हैं, ऐसा समझना। एकाग्रचिन्तानिरोध—एक विषय पर चिन्तन का रोक लेना यह ध्यान का लक्षण है।

आर्तध्यान के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—अनिष्ट का योग, इष्ट का वियोग, परीषह और निदानकरण इनमें कषाय सहित जो ध्यान है वह संक्षेप से आर्तध्यान कहा गया है।।३९५।।

आचारवृत्ति—अमनोज्ञयोग—ज्वर, शूल, शत्रु, रोग आदि का सम्पर्क होना, इष्ट वियोग—पुत्र, पुत्री, माता, पिता, बन्धु, शिष्य आदि का वियोग होना, परिषह—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि बाधाओं का होना; निदान—इस लोक या परलोक में भोग-विषयों की अभिलाषा करना। इन स्थानों में जो आर्त अर्थात् मन का संक्लेश होता है वह कषाय सहित ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। इनका वर्णन यहाँ संक्षेप से किया गया है। जैसे—कब मेरा इस अनिष्ट से वियोग होगा इस प्रकार से चिन्तन करना

चिन्तनमार्तध्यानं प्रथमं। इष्टैः सह सर्वदा यदि मम संयोगो भवति वियोगो न कदाचिदपि स्वाद्यद्येवं चिन्तनमार्तध्यानं द्वितीयं। क्षुत्तृटछीतोष्णादिभिरहं व्यथितः कदैतेषां ममाभावः स्यात्। कथं मयौदनादयो लभ्या येन मम क्षुधादयो न स्युः। कदा मम वेलायाः प्राप्तिः स्याद्येनाहं भुंजे पिबामि वा। हाकारं पूत्कारं जलसेकं च कुर्वतोऽपि न तेन मम प्रतीकार इति चिन्तनमार्तध्यानं तृतीयमिति। इहलोके यदि मम पुत्राः स्युः परलोके यद्यहं देवो भवामि स्त्रीवस्त्रादिकं मम स्यादित्येवं चिन्तनं चतुर्थमार्तध्यानमिति।।३९५।।

रौद्रध्यानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण।।३९६।।

पहला आर्तध्यान है। इष्टजनों के साथ यदि मेरा संयोग होता है तो कदाचित् भी वियोग न होवे ऐसा चिन्तन होना दूसरा आर्तध्यान है। क्षुधा, तृषा आदि के द्वारा मैं पीड़ित हो रहा हूँ, मुझसे कब इनका अभाव होवे ? मुझे कैसे भात—भोजन आदि प्राप्त होवें कि जिससे मुझे क्षुधा आदि बाधाएँ न होवें ? कब मेरे आहार की बेला आवे कि जिससे मैं भोजन करूँ अथवा पानी पिऊँ ? हाहाकार या पूत्कार और जल-सिञ्चन आदि करते हुए भी उन बाधाओं से मेरा प्रतीकार नहीं हो रहा है अर्थात् घबराने से, हाय-हाय करने से, पानी छिड़कने से भी प्यास आदि बाधाएँ दूर नहीं हो रही हैं इत्यादि प्रकार से चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्तध्यान है। इस लोक में यदि मेरे पुत्र हो जावें, परलोक में यदि मैं देव हो जाऊँ तो ये स्त्री, वस्त्र आदि मुझे प्राप्त हो जावें इत्यादि चिन्तन करना चौथा आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—चोरी, असत्य, परिग्रहसंरक्षण और छह प्रकार की जीवहिंसा के आरम्भ में कषाय सहित होना रौद्रध्यान है, ऐसा संक्षेप से कहा है।।३९६।।

आचारवृत्ति—स्तैन्य—परद्रव्य के हरण का अभिप्राय होना, मृषा—असत्य बोलने में तत्पर होना, सारक्षण—यदि मेरा द्रव्य कोई चुराएगा तो मैं उसे मार डालूँगा, इस प्रकार से आयुध को हाथ में लेकर मारने का अभिप्राय करना, षड्विधानारम्भ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना करने में, इनका छेदन-भेदन करने में, इनको बाँधने में, इनका वध करने में, इनका ताड़न करने में और इन्हें जला देने में उद्यम का होना अर्थात् इन जीवों को पीड़ा देने में उद्यत होना, कषाय सहित ऐसा ध्यान रौद्र कहलाता है। यहाँ पर इसका संक्षेप से कथन किया गया है।

स्तैन्यं परद्रव्यापहरणाभिप्रायः। मृषाऽनृते तत्परता। सारक्षणं यदि मदीयं द्रव्यं चोरयति तमहं निहन्मि, एवमायुधव्यग्रहस्तमारणाभिप्रायः। स्तैन्यमृषावादसारक्षणेषु। तथा चैव षड्विधारम्भे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकविराधने च्छेदनभेदन-वधता-डनदहनेषूद्यमः रौद्रं कषायसहितं ध्यानं भणितं। समासेन संक्षेपेण। परद्रव्यहरणे तत्परता प्रथमं रौद्रं। परपीडाकरे मृषावादे यत्नः द्वितीयं रौद्रं। द्रव्यपशुपुत्रादिरक्षणविषये चौरदायादिमारणोद्यमे यत्नस्तृतीयं रौद्रं। तथा षड्विधे जीवमारणारम्भे कृताभिप्रायश्चतुर्थं रौद्रमिति।।३९७।। ततः—

अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ।।३९७।।

यत एवंभूते आर्तरौद्रे। किंविशिष्टे, महाभये महासंसारभीतिदायिनि (नी) सुगतिप्रत्यूहे—देवगतिमोक्षगतिप्रतिकूले। अपहृत्य निराकृत्य। धर्मध्याने शुक्लध्याने वा भव सम्यग्विधानेन गतमतिः। धर्मध्याने शुक्लध्याने च सादरो सुष्ठु विशुद्धं मनो विधेहि समाहितमतिर्भवेति।।३९७।।

तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के हरण करने में तत्पर होना प्रथम रौद्रध्यान है। पर को पीड़ा देने वाले असत्य वचन के बोलने में यत्न करना दूसरा रौद्रध्यान है। द्रव्य अर्थात् धन, पशु, पुत्रादि के रक्षण के विषय में, चोर, दायाद अर्थात् भागीदार आदि के मारने में प्रयत्न करना यह तीसरा रौद्रध्यान है और छह प्रकार के जीवों के मारने के आरम्भ में अभिप्राय रखना यह चौथा रौद्रध्यान है।

विशेष—इन्हीं ध्यानों के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ऐसे नाम भी अन्य ग्रन्थों में पाए जाते हैं। जिसका अर्थ है हिंसा में आनन्द मानना, झूठ में आनन्द मानना, चोरी में आनन्द मानना और परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना। यह ध्यान रुद्र अर्थात् क्रूर परिणामों से होता है। इसमें कषायों की तीव्रता रहती है अतः इसे रौद्रध्यान कहते हैं।

इसके बाद—क्या करना ? सो कहते हैं—

गाथार्थ—सुगति के रोधक महाभयरूप इन आर्त, रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान में अथवा शुक्लध्यान में एकाग्रबुद्धि करो।।३९७।।

आचारवृत्ति—महासंसार भय को देने वाले और देवगति तथा मोक्षगति के प्रतिकूल ऐसे इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान, शुक्लध्यान में अच्छी तरह अपनी मति लगाओ अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान में आदर सहित होकर अच्छी तरह अपने विशुद्ध मन को लगाओ, उन्हीं में एकाग्रबुद्धि को करो।

धर्मध्यानभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च।।३९८।।

एकाग्रेण पंचेन्द्रियव्यापारपरित्यागेन कायिकवाचिकव्यापारविरहेण च। मनो मानसव्यापारं। निरुध्यात्मवशं कृत्वा। चतुर्विधं चतुर्भेदं। ध्याय चिन्तय। के ते चत्वारो विकल्पा इत्याशंकायामाह—आज्ञाविचयोऽपायविचयो विपाकविचयः संस्थानविचयश्चेति।।३९८।।

तत्राज्ञाविचयं विवृण्वन्नाह—

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि।।३९९।।

पंचास्तिकायाः जीवास्तिकायोऽजीवास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायो वियदास्तिकाय इति तेषां प्रदेशबन्धोऽस्तीति कृत्वा काया इत्युच्यन्ते। षड्जीवनिकायश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः। कालद्रव्यमन्यत्। अस्य प्रदेशबन्धाभावादस्तिकायत्वं

धर्मध्यान के भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—एकाग्रतापूर्वक मन को रोककर उस धर्म का ध्यान करो जिसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हैं।।३९८।।

आचारवृत्ति—पंचेन्द्रिय विषयों के व्यापार का त्याग करके और कायिक, वाचिक व्यापार से भी रहित होकर, एकाग्रता से मानस व्यापार को रोककर अर्थात् मन को अपने वश में करके चार प्रकार के धर्मध्यान का चिन्तवन करो। वे चार भेद कौन हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद धर्मध्यान के हैं।

भावार्थ—यहाँ एकाग्रचिन्तानिरोध लक्षण वाला ध्यान कहा गया है। पंचेन्द्रियों के विषय का छोड़ना और काय की तथा वचन की क्रिया नहीं करना 'एकाग्र' है तथा मन का व्यापार रोकना चिन्तानिरोध है। इस प्रकार से ध्यान के लक्षण में इन्द्रियों के विषय से हटकर तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से छूटकर जब मन अपने किसी ध्येय विषय में टिक जाता है, रुक जाता है, स्थिर हो जाता है उसी को ध्यान यह संज्ञा आती है।

गाथार्थ—उसमें से पहले आज्ञाविचय का वर्णन करते हैं—पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य ये आज्ञा से ग्राह्य पदार्थ हैं। इनको आज्ञा के विचार से चिन्तवन करना है।।३९९।।

नास्ति। एतानाज्ञाग्राह्यान् भावान् पदार्थान्। आज्ञाविचयेनाज्ञास्वरूपेण। विचिनोति विवेचयति ध्यायतीति यावत्। एते पदार्थाः सर्वज्ञनाथेन वीतरागेण प्रत्यक्षेण दृष्टा न कदाचिद् व्यभिचरन्तीत्यास्तिक्यबुध्द्या तेषां पृथक्पृथग्विवेचनेनाज्ञाविचयः। यद्यप्यात्मनः प्रत्यक्षबलेन हेतुबलेन वा न स्पष्टा तथापि सर्वज्ञाज्ञानिर्देशन गृह्णाति नान्यथावादिनो जिना यत इति।।३९९।।

अपायविचयं विवृण्वन्नाह—

कल्लाणपावगाओ पाए विचिणादि जिणमदमुविच्च।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य।।४००।।

कल्याणप्रापकान् पंचकल्याणानि यैः प्राप्यन्ते तान् प्राप्यान् सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि। विचिनोति ध्यायति। जिनमतमुपेत्य जैनागममाश्रित्य। विचिनोति वा ध्यायति

आचारवृत्ति—जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, (पुद्गलास्तिकाय) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं। इन पाँचों में प्रदेश का बन्ध अर्थात् समूह विद्यमान है अतः इन्हें काय कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये षट्जीवनिकाय हैं। और अन्य—छठा कालद्रव्य है। इसमें प्रदेशबन्ध का अभाव होने से यह अस्तिकाय नहीं है अर्थात् काल एकप्रदेशी होने से अप्रदेशी कहलाता है इसलिए यह 'अस्ति' तो है किन्तु काय नहीं है। ये सभी पदार्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से ग्रहण करने योग्य होने से आज्ञाग्राह्य हैं। आज्ञाविचय से अर्थात् आज्ञारूप से इनका विवेचन करना—ध्यान करना आज्ञाविचय है।

तात्पर्य यह है कि वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन पदार्थों को प्रत्यक्ष से देखा है। ये कदाचित् भी व्यभिचरित नहीं होते हैं अर्थात् ये अन्यथा नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार से आस्तिक्य बुद्धि के द्वारा उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना, चिन्तवन करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। यद्यपि ये पदार्थ स्वयं को प्रत्यक्ष से या तर्क के द्वारा स्पष्ट नहीं हैं फिर भी सर्वज्ञ की आज्ञा के निर्देश से वह उनको ग्रहण करता है; क्योंकि 'नान्यथावादिनो जिनाः' जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं।

अपायविचय का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—जिनमत का आश्रय लेकर कल्याण को प्राप्त कराने वाले उपायों का चिन्तन करना अथवा जीवों के शुभ और अशुभ का चिन्तन करना अपायविचय है।।४००।।

आचारवृत्ति—जिनके द्वारा पंचकल्याणक प्राप्त किए जाते हैं वे सम्यग्दर्शन और चारित्र प्राप्य हैं अर्थात् उपायभूत हैं। जैनागम का आश्रय लेकर इनका ध्यान करना

वा। अपायान् कर्मापगमान् स्थितिखण्डाननुभागखण्डानुत्कर्षापकर्षभेदान्। जीवानां सुखानि जीवप्रदेशसंतर्पणानि। असुखानि दुःखानि चात्मनस्तु विचिनोति भावयतीति। एतैः कर्तव्यैर्जीवा दूरतो भवन्ति शासनात्, एतैस्तु शासनमुपढौकते, एतैः परिणामैः संसारे भ्रमन्ति जीवाः, एतश्च संसाराद्विमुञ्चन्तीति चिन्तनमपायचिन्तनं नाम द्वितीयं धर्मध्यानमिति।।४००।।

विपाकविचयस्वरूपमाह—

एआणेयभवगयं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधंमोक्खं च विचिणादि।।४०१।।

एकभवगतमनेकभवगतं च जीवानां पुण्यकर्मफलं पापकर्मफलं च विचिनोति। उदयं स्थितिक्षयेण गलनं विचिनोति ये कर्मस्कन्धा उत्कर्षापकर्षादिप्रयोगेण स्थितिक्षयं प्राप्यात्मनः फलं ददते तेषां कर्मस्कन्धानामुदय इति संज्ञा तं ध्यायति। तथा चोदीरणमपक्वपाचनं। ये कर्मस्कन्धाः सत्सु स्थित्यनुभागेषु अवस्थिताः सन्त

उपायविचय धर्मध्यान है; जीव के प्रदेशों को संतर्पित करने वाला सुख है और आत्मा के प्रदेशों में पीड़ा उत्पन्न करने वाला दुःख है। इस तरह से जीवों के सुख और दुःख का चिन्तवन करना अर्थात् जीव इन कार्यों के द्वारा जिनशासन से दूर हो जाते हैं और इन शुभ कार्यों के द्वारा जिनशासन के निकट आते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं। या इन परिणामों से संसार में भ्रमण करते हैं और इन परिणामों से संसार से छूट जाते हैं। इस प्रकार से चिन्तवन करना यह अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है।

भावार्थ—कल्याण के लिए उपायभूत रत्नत्रय का चिन्तवन करना उपायविचय तथा कर्मों के अपाय—अभाव का चिन्तवन करना अपायविचय है।

अब विपाकविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीवों के एक और अनेक भव में होने वाले पुण्य-पाप कर्म के फल को तथा कर्मों के उदय, उदीरणा, बन्ध और मोक्ष को जो ध्याता है उसके विपाकविचय धर्मध्यान होता है।।४०१।।

आचारवृत्ति—मुनि विपाकविचय धर्म्यध्यान में जीवों के एक भव में होने वाले या अनेक भव में होने वाले पुण्यकर्म के और पापकर्म के फल का चिन्तन करते हैं। कर्मों के उदय का विचार करते हैं। स्थिति के क्षय से गलन होना उदय है अर्थात् जो कर्मस्कन्ध उत्कर्षण या अपकर्षण आदि प्रयोग द्वारा स्थिति क्षय को प्राप्त करके आत्मा को फल देते हैं उन कर्मस्कन्धों की उदय यह संज्ञा है। वे जीवों के कर्मोदय का विचार

आकृष्याकाले फलदाः क्रियन्ते तेषां कर्मस्कन्धानामुदीरणमिति संज्ञा तद् ध्यायति। संक्रमणं परप्रकृतिस्वरूपेण गमनं विचिनोति। तथा बन्धं जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसंश्लेषं ध्यायति। मोक्षं जीवकर्मप्रदेशविश्लेषमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं विचिनोतीति सम्बन्धः। तथा शुभ प्रकृतीनां गुडखण्डशर्करामृतस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् अशुभप्रकृतीनां निम्बकांजीरविषहालाहलस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् अशुभप्रकृतीनां निम्बकांजीर विषहालाहल स्वरूपेणानुभागचिन्तनम् तथा घातिकर्मणां लतादार्वस्थिशिलास मानानुचिंतनं। नरवतिर्यग्मनुष्यदेवगतिप्रापककर्मफलचिन्तनं इत्येवमादिचिन्तनं विपाकविचयधर्म्यध्यानं नामेति।।४०१।।

संस्थानविचयस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

उड्ढमहतिरियलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचिणादि।।४०२।।

ऊर्ध्वलोकं सपर्ययं सभेदं संस्थानं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घायतमृदंगसंस्थानं पटलेन्द्रकश्रेणीबप्रकीर्णकविमानभेदभिन्नं विचिनोति ध्यायति। तथाधोलोकं सपर्ययं ससंस्थानं वेत्रासनाद्याकृतिं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घायतादिसंस्थानभेदभिन्नं सप्तपृथिवीन्द्र-

---

करते हैं। अपक्वपाचन को उदीरणा कहते हैं अर्थात् जो कर्मस्कन्ध स्थिति और अनुभाग के अवशेष रहते हुए विद्यमान हैं उनको खींच करके जो अकाल में ही उन्हें फल देने वाला कर लेना है सो उदीरणा है अर्थात् प्रयोग के बल से अकाल में ही कर्मों को उदयावली में ले आना उदीरणा है। इसका ध्यान करते हैं। किसी प्रकृति का पर-प्रकृतिरूप से होना बन्ध है। जीव और कर्म के प्रदेशों का पृथक्करण होकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य स्वरूप को प्राप्त हो जाना मोक्ष है। इस संक्रमण का, बंध और मोक्ष का चिन्तवन करते हैं।

उसी प्रकार से शुभ प्रकृतियों के गुड़, खांड, शर्करा और अमृत रूप अनुभाग का चिन्तवन करना तथा अशुभ प्रकृतियों का नीम, कांजीर, विष और हालाहलरूप अनुभाग का विचार करना तथा घातिकर्मों का लता, दारू, हड्डी और शिला के समान अनुभाग है ऐसा सोचना नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति को प्राप्त कराने वाले ऐसे कर्मों के फल का चिन्तन करना इत्यादि प्रकार से जो भी कर्मसम्बन्धी चिन्तन करना है, यह सब विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

संस्थानविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—भेदसहित और आकार सहित ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक का ध्यान करते हैं और इसी से सम्बन्धित द्वादश अनुप्रेक्षा का भी विचार करते हैं।।४०२।।

कश्रेणिविश्रेणिबद्धप्रकीर्णकप्रस्तरस्वरूपेण स्थितं शीतोष्णनारकसहितं महावेदनारूपं च विचिनोति। तथा तिर्यग्लोकं सपर्ययं सभेदं ससंस्थानं झल्लर्याकारं मेरुकुलपर्वतादि ग्रामनगरपत्तनभेदभिन्नं पूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतभोगभूमिद्वीपसमुद्रवननदीवेदिकायतनकूटादिभेदभिन्नं दीर्घह्रस्ववृत्तायतत्र्यराचतुरस्रसंस्थानसहितं विचिनोति ध्यायतीति सम्बन्धः। अत्रैवानुगता अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षा विचिनोति।।४०२।।

कस्ता अनुप्रेक्षा इति नामानीति दर्शयन्नाह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो।।४०३।।

अध्रुवमनित्यता। अशरणमनाश्रयः। एकत्वमेकोऽहं। अन्यत्वं शरीरादन्योऽहं। संसारश्चतुर्गतिसंक्रमणं। लोक ऊर्ध्वाधोमध्यवेत्रासनझल्लरीमृदंगरूपश्चतुर्दश-

---

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक पर्याय सहित अर्थात् भेदों सहित तथा आकार सहित—त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ, आयत और मृदंग के आकार वाला है। इसमें पटलों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों से अनेक भेद हैं। इसका मुनि ध्यान करते हैं। अधोलोक भी भेद सहित और वेत्रासन आदि आकार सहित है। त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ आदि आकार इसमें भी घटित होते हैं। इसमें सात पृथिवियाँ हैं। इन्द्रक, श्रेणी, विश्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक प्रस्तार हैं। कुछ नरकबिल शीत हैं और कुछ उष्ण हैं। ये महावेदनारूप हैं इत्यादि का ध्यान करना। उसी प्रकार से तिर्यग्लोक भी नाना भेदों सहित और अनेक आकृति वाला है, झल्लरी के समान है, मेरु पर्वत, कुलपर्वत आदि तथा ग्राम, नगर, पत्तन आदि से भेद सहित है। पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरत, ऐरावत, भोगभूमि, द्वीप, समुद्र, वन, नदी, वेदिका, आयतन और कूटादि से युक्त है। दीर्घ, ह्रस्व, गोल, आयत, त्रिकोण, चतुष्कोण आकारों से सहित है। मुनि इसका भी ध्यान करते हैं अर्थात् मुनि तीनों लोक सम्बन्धी जो कुछ आकार आदि का चिन्तवन करते हैं वह सब संस्थानविचय धर्मध्यान है और इन्हीं के अन्तर्गत द्वादश अनुप्रेक्षाओं का भी चिन्तवन करते हैं।

उन अनुप्रेक्षाओं के नाम बताते हैं—

गाथार्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इनका चिन्तवन करना चाहिए।।४०३।।

आचारवृत्ति—अध्रुव—सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। अशरण—कोई आश्रयभूत नहीं है। एकत्व—मैं अकेला हूँ। अन्यत्व—मैं शरीर से भिन्न हूँ। संसार—चतुर्गति में संसरण करना—भ्रमण करना ही संसार है। लोक—यह ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक

रज्जवायतः। अशुचित्वं। आस्रवः कर्मास्रवः। संवरो महाव्रतादिकं। निर्जरा कर्मसातनं। धर्मोऽपि दशप्रकारः क्षमादिलक्षणः। बोधिं च सम्यक्त्वसहिता भावना एता द्वादशानुप्रेक्षाश्चिन्तय। तत् एतच्चतुर्विधं धर्मध्यानं नामेति।।४०३।।

शुक्लध्यानस्य स्वरूपं भेदांश्च विवेचयन्नाह—

उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं।।४०४।।

उपशान्तकषायस्तु पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं। द्रव्याण्यनेकभेदभिन्नानि त्रिभियोगैर्यतो ध्यायति ततः पृथक्त्वमित्युच्यते। वितर्कः श्रुतं यस्माद्वितर्केण श्रुतेन सह वर्तते यस्माच्च नवदशचतुर्दशपूर्वधरैरारभ्यते तस्मात्सवितर्कं तत्। विचारोर्थव्यंजनयोगः (ग) संक्रमणः। एकमर्थं त्यक्त्वार्थान्तरं ध्यायति मनसा संचिंत्य वचसा प्रवर्तते कायेन प्रवर्तते एवं

की अपेक्षा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के आकार का है और चौदह राजू ऊँचा है। अशुचि—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। आस्रव—कर्मों का आना आस्रव है। संवर—महाव्रत आदि से आते हुए कर्म रुक जाते हैं। निर्जरा—कर्मों का झड़ना निर्जरा है। धर्म—उत्तम क्षमा आदि लक्षणरूप धर्म दश प्रकार का है। बोधि—सम्यक्त्व सहित भावना ही बोधि है। इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

शुक्लध्यान का स्वरूप और उसके भेदों को कहते हैं—

गाथार्थ—उपशान्तकषाय मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान को ध्याते हैं। क्षीणकषाय मुनि एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान करते हैं।।४०४।।

आचारवृत्ति—उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को ध्याते हैं। जीवादि द्रव्य अनेक भेदों से सहित हैं, मुनि इनको मन, वचन और काय इन तीनों योगों के द्वारा ध्याते हैं इसलिए इस ध्यान का पृथक्त्व यह सार्थक नाम है। श्रुत को वितर्क कहते हैं। वितर्क—श्रुत के साथ रहता है अर्थात् नवपूर्वधारी, दशपूर्वधारी या चतुर्दश पूर्वधरों के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है इसलिए वह वितर्क कहलाता है। अर्थ, व्यंजन और योगों के संक्रमण का नाम वीचार है अर्थात् जो एक अर्थ—पदार्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का ध्यान करता है, मन से चिन्तवन करके वचन से करता है, पुनः काययोग से ध्याता है। इस तरह परम्परा से योगों का संक्रमण होता है अर्थात् द्रव्यों का संक्रमण होता है और व्यंजन अर्थात् पर्यायों का संक्रमण होता है। पर्यायों में स्थूल पर्यायें व्यंजन पर्याय हैं और जो वचन के अगोचर सूक्ष्म पर्याय हैं वे अर्थ पर्यायें कहलाती हैं। इनका संक्रमण इस ध्यान में होता है इसलिए यह ध्यान

परंपरेण संक्रमो योगानां द्रव्याणां व्यंजनानां च स्थूलपर्यायाणामर्थानां सूक्ष्मपर्यायाणां वचनगोचरातीतानां संक्रमः सवीचारं यानमिति। अस्य त्रिप्रकारस्य ध्यानस्योपशान्त-कषायः स्वामी। तथा क्षीणकषायो ध्यायत्येकत्वं वितर्कमवीचारं। एकं द्रव्यमेकार्थपर्याय-मेकं व्यंजनपर्यायं च योगनैकेन ध्यायति तद्ध्यानमेकत्वं, वितर्कः श्रुतं पूर्वोक्तमेव, अवीचारं अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिरहितं। अस्य त्रिप्रकारस्यैकत्ववितर्कवीचारभेदभिन्नस्य क्षीणकषायः स्वामी।।४०४।।

तृतीयचतुर्थशुक्लध्यानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुसकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदियसुक्कंतु।
जं केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं।।४०५।।

सूक्ष्मक्रियामवितर्कमवीचारं श्रुतावष्टम्भरहितमर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिवियुक्तं सूक्ष्मकायक्रियाव्यवस्थितं तृतीयं शुक्लं सयोगी ध्यायति ध्यानमिति। यत्कैवल्ययोगी

वीचार सहित है अतः इसका सार्थक नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है। इस ध्यान में तीन प्रकार हो जाते हैं अर्थात् पृथक्त्व—नाना भेदरूप द्रव्य, वितर्क—श्रुत और वीचार—अर्थ व्यंजन, योग का संक्रमण इन तीनों की अपेक्षा से यह ध्यान तीन प्रकार रूप है। इस ध्यान के स्वामी उपशान्तकषायी महामुनि हैं।

क्षीणकषायगुणस्थान वाले मुनि एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान को ध्याते हैं। वे एक द्रव्य को अथवा एक अर्थपर्याय को या एक व्यंजन पर्याय को किसी एक योग के द्वारा ध्याते हैं अतः यह ध्यान एकत्व कहलाता है। इसमें वितर्क—श्रुत पूर्वकथित ही है अर्थात् नव, दश या चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता मुनि ही ध्याते हैं। अर्थ, व्यंजन और योगों की संक्रान्ति से रहित होने से यह ध्यान अवीचार है। इसमें भी एकत्व, वितर्क और अवीचार ये तीन प्रकार होते हैं। इस तीन प्रकाररूप एकत्व, वितर्क, अवीचार ध्यान को करने वाले क्षीणकषाय महामुनि ही इसके स्वामी हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर उपशान्तकषाय वाले के प्रथम शुक्लध्यान और क्षीणकषाय वाले के द्वितीय शुक्लध्यान माना है। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी 'तत्त्वार्थसार' में कहा है—

'द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्रिभिः।
शांतमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ।।४७।।
द्रव्यमेकं तथैवेकेन योगेनान्यतरेण च।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत्।।४८।।

ध्यायति ध्यानं तत्समुच्छिन्नमवितर्कमविचारमनिवृत्तिनिरुद्धयोगमपश्चिमं शुक्लमविचलं मणिशिखावत्। तस्य चतुर्थध्यानस्यायोगी स्वामी। यद्यप्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारक्रिया ध्यानमित्युपचर्यते। पूर्वप्रवृत्तिमपेक्ष्य घृतघटवत् पुंवेदवद्वेति।।४०५।।

व्युत्सर्गनिरूपणायाह—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतर कोहादी बाहिर खेत्तादियं दव्वं।।४०६।।

द्विविधो द्विप्रकारो व्युत्सर्गः परिग्रहपरित्यागोऽभ्यन्तरबाहिरो अभ्यन्तरो बाह्यश्च ज्ञातव्यः। क्रोधादीनां व्युत्सर्गोभ्यन्तरः क्षेत्रादिद्रव्यस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति।।४०६।।

अभिप्राय यही है कि उपशान्तमोह मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान को ध्याते हैं और क्षीणमोह मुनि एकत्ववितर्कवीचार को ध्याते हैं।

तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान सयोगी ध्याते हैं। जो अयोगी केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न ध्यान है।।४०५।।

आचारवृत्ति—जो सूक्ष्मकाय क्रिया में व्यवस्थित है अर्थात् जिनमें काययोग की क्रिया भी सूक्ष्म हो चुकी है वह सूक्ष्मक्रिया ध्यान है। यह अवितर्क और अविचार श्रुत के अवलम्बन से रहित है अतः अवितर्क है और इसमें अर्थ, व्यंजन तथा योगों का संक्रमण नहीं है अतः यह अविचार है। ऐसे इस सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान को सयोग केवली ध्याते हैं।

जिस ध्यान को अयोगकेवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न है। वह अवितर्क, अविचार, अनिवृत्तिनिरुद्ध योग, अनुत्तर, शुक्ल और अविचल है, मणिशिखा के समान है अर्थात् इस समुच्छिन्न ध्यान में श्रुत का अवलम्बन नहीं है अतः अवितर्क है। अर्थ व्यंजन योग की संक्रान्ति भी नहीं है अतः अविचार है। सम्पूर्ण योगों का—काययोग का भी निरोध हो जाने से यह अनिवृत्तिनिरोध योग है। सभी ध्यानों में अन्तिम है इससे उत्कृष्ट अब और कोई ध्यान नहीं रहा है अतः यह अनुत्तर है। परिपूर्णतया स्वच्छ उज्ज्वल होने से शुक्लध्यान इसका नाम है। यह मणि के दीपक की शिखा के समान होने से पूर्णतया अविचल है। इस चतुर्थ ध्यान के स्वामी चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली हैं।

यद्यपि इन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मन का व्यापार नहीं है तो भी उपचार क्रिया से ध्यान का उपचार किया गया है। यह ध्यान का कथन पूर्व में होने वाले ध्यान

अभ्यन्तरस्य व्युत्सर्ग भेदप्रतिपादनार्थमाह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा।।४०७।।

मिथ्यात्वं। स्त्रीपुंनपुंसकवेदास्त्रयः। रागा हास्यादयः षट् दोषा हास्यरत्यरतिशोक-भयजुगुप्साः चत्वारस्तथा कषाया क्रोधमानमायालोभाः। एते चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः। एतेषां परित्यागोऽभ्यन्तरो व्युत्सर्ग इति।।४०७।।

बाह्यव्युत्सर्गभेद प्रतिपादनार्थमाह—

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति।।४०८।।

की प्रवृत्ति की अपेक्षा करके कहा गया है, जैसे कि पहले घड़े में घी रखा था पुनः उस घड़े से घी निकाल देने के बाद भी उसे घी का घड़ा कह देते हैं अथवा पुरुषवेद का उदय नवमें गुणस्थान में समाप्त हो गया है फिर भी पूर्व की अपेक्षा वेद से मोक्ष की प्राप्ति कह देते हैं।

भावार्थ—इन सयोगी और अयोगकेवली के मन का व्यापार न होने से इनमें 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' यह ध्यान का लक्षण नहीं पाया जाता है। फिर भी कर्मों का नाश होना यह ध्यान का कार्य देखा जाता है अतएव वहाँ पर उपचार से ध्यान माना जाता है।

अब अन्तिम व्युत्सर्ग तप का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से व्युत्सर्ग दो प्रकार जानना चाहिए। क्रोध आदि अभ्यन्तर हैं और क्षेत्र आदि द्रव्य बाह्य हैं।।४०६।।

आचारवृत्ति—परिग्रह का परित्याग करना व्युत्सर्ग तप है। वह दो प्रकार का है—अभ्यन्तर और बाह्य। क्रोधादि अभ्यन्तर परिग्रह हैं, इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। क्षेत्र आदि बाह्य द्रव्य का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

अभ्यन्तर व्युत्सर्ग का वर्णन करते हैं—

भावार्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छह दोष और चार कषायें ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं।।४०७।।

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं। इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

क्षेत्रं सस्यादिनिष्पत्तिस्थानं। वास्तु गृहप्रसादादिकं। धनगतं सुवर्णरूप्यद्रव्यादि। धान्यगतं शालियवगोधूमादिकं द्विपदा दासीदासादयः। चतुष्पदगतं गोमहिष्याजादिगतं। यानं शयनमासनं। कुप्यं कार्पासादिकं। भाण्डं हिंगुमरीचादिकं। एवं बाह्यपरिग्रहो दशप्रकारस्तस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति।।४०८।।

द्वादशविधस्यापि तपसः स्वाध्यायोऽधिक इत्याह—

बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं।।४०९।।

द्वादशविधस्यापि तपसः सबाह्याभ्यन्तरे कुशलदृष्टे सर्वज्ञगणधरादिप्रतिपादिते नाप्यस्ति नापि च भविष्यति स्वाध्यायसमानं तपःकर्म। द्वादशविधेऽपि तपसि मध्ये स्वाध्यायसमानं तपोनुष्ठानं न भवति न भविष्यति।।४०९।।

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू।।४१०।।

बाह्य व्युत्सर्ग भेद का प्रतिपादन करते हैं—

भावार्थ—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन-आसन, कुप्य और भांड ये दश परिग्रह होते हैं।।४०८।।

आचारवृत्ति—धान्य आदि की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र—खेत कहते हैं। घर, महल आदि वास्तु हैं। सोना, चाँदी आदि द्रव्य धन हैं। शालि, जौ, गेहूँ आदि धान्य हैं। दासी, दास आदि द्विपद हैं। गाय, भैंस, बकरी आदि चतुष्पद हैं। वाहन आदि यान हैं। पलंग, सिंहासन आदि शयन-आसन हैं। कपास आदि कुप्य कहलाते हैं और हींग, मिर्च आदि को भांड कहते हैं। ये बाह्य परिग्रह दश प्रकार के हैं, इनका त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

बारह प्रकार के तप में भी स्वाध्याय सबसे श्रेष्ठ है ऐसा निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गए अभ्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा।।४०९।।

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव और गणधर आदि के द्वारा प्रतिपादित इन बाह्य और अभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तपों में भी स्वाध्याय के समान न कोई अन्य तप है ही और न ही होगा अर्थात् बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय तप सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

गाथार्थ—विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत्त और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमन वाला हो जाता है।।४१०।।

स्वाध्यायं कुर्वन् पंचेन्द्रियसंवृतः त्रिगुप्तश्चेन्द्रियव्यापाररहितो मनोवाक्कायगुप्तश्च, भवत्येकाग्रमनाः शास्त्रार्थतन्निष्ठो विनयेन समाहितो वियुक्तो भिक्षुः साधुः। स्वाध्यायस्य माहात्म्यं दर्शितमाभ्यां गाथाभ्यामिति।।४१०।।

तपोविधानक्रममाह—

सिद्धिप्पासादवदंसयस्स करणं चदुव्विहं होदि।
दव्वे खेत्ते काले भावे वि य आणुपुव्वीए।।४११।।

तस्य द्वादशविधस्यापि तपसः किंविशिष्टस्य, सिद्धिप्रासादावतंसकस्य मोक्षगृहकर्णपूरस्य मण्डनस्याथवा सिद्धिप्रासादप्रवेशकस्य करणमनुष्ठानं चतुर्विधं भवति। द्रव्यमाहारशरीरादिकं। क्षेत्रमनूपमरुजांगलादिकं स्निग्धरूक्षवातपित्तश्लेष्मप्रकोपकं। कालः शीतोष्णवर्षादिरूपः। भावः (व) परिणामश्चित्तसंक्लेशः। द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य तपः कुर्यात्। यथा वातपित्तश्लेष्मविकारो न भवति। आनुपूर्व्यानुक्रमेण क्रमं त्यक्त्वा यदि तपः करोति चित्तसंक्लेशो भवति संक्लेषाच्च कर्मबन्धः स्यादिति।।४११।।

आचारवृत्ति—जो मुनि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करते हैं वे उस समय स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रियों के विषय व्यापार से रहित हो जाते हैं और मन-वचन-काय-रूप तीन गुप्ति से सहित हो जाते हैं तथा शास्त्र पढ़ने और उसके अर्थ के चिन्तन में तल्लीन होने से एकाग्रचित्त हो जाते हैं। इन दो गाथाओं के द्वारा स्वाध्याय का माहात्म्य दिखलाया है।

तप के विधान का क्रम बतलाते हैं—

गाथार्थ—मोक्षमहल के भूषणरूप तप के कारण चार प्रकार के हैं जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप क्रम से हैं।।४११।।

आचारवृत्ति—यह जो बारह प्रकार तप है वह सिद्धिप्रासाद का भूषण है, मोक्ष महल का कर्णफूल है अर्थात् मोक्षमहल का मंडनरूप है अथवा मोक्षमहल में प्रवेश करने का साधन है। ऐसा यह तपश्चरण का अनुष्ठान चार प्रकार का है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों का आश्रय लेकर यह तप होता है। आहार और शरीर आदि को द्रव्य कहते हैं। अनूप—जहाँ पानी बहुत पाया जाता है, मरु—जहाँ पानी बहुत कम है, जांगल—जलरहित प्रदेश, ये स्थान स्निग्ध रूक्ष हैं एवं वात, पित्त या कफ को बढ़ाने वाले हैं। ये सब क्षेत्र कहलाते हैं। शीत, उष्ण, वर्षा आदि रूप काल होता है और चित्त के संक्लेश आदि रूप परिणाम को भाव कहते हैं। अपनी प्रकृति आदि के अनुकूल इन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर तपश्चरण करना चाहिए। जिस

तपोऽधिकारमुपसंहरन् वीर्या सूचयन्नाह—

अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भंतरो तओ भणिओ।
एत्तो विरियाचारं समासओ वण्णइस्सामि।।४१२।।

अभ्यन्तरशोधनकमेतदभ्यन्तरतपो भणितं भावशोधनायैतत्तपः तथा बाह्यमप्युक्तं। इत ऊर्ध्वं वीर्याचारं वर्णयिष्यामि संक्षेपत इति[१]।।४१२।।

प्रकार से वात, पित्त या कफ का विकार उत्पन्न न हो, अनुक्रम से ऐसा ही तप करना चाहिए। यदि मुनि क्रम का उल्लंघन करके तप करते हैं तो चित्त में संक्लेश हो जाता है और चित्त में संक्लेश के होने से कर्म का बन्ध होता है।

भावार्थ—जिस आहार आदि द्रव्य से वात आदि विकार उत्पन्न न हो, वैसा आहार आदि लेकर पुनः उपवास आदि करना चाहिए। किसी देश में वात प्रकोप हो जाता है, किसी देश में पित्त का या किसी देश में कफ का प्रकोप बढ़ जाता है ऐसे क्षेत्र को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल देखकर ही तपश्चरण करना चाहिए। जैसे, जो उष्ण प्रदेश हैं वहाँ पर उपवास अधिक होने से पित्त का प्रकोप हो सकता है। ऐसे ही शीत काल, उष्णकाल और वर्षाकाल में भी अपने स्वास्थ्य को संभालते हुए तपश्चरण करना चाहिए। सभी ऋतुओं में समान उपवास आदि से वात, पित्त आदि विकार बढ़ सकते हैं तथा जिस प्रकार से परिणामों में संक्लेश न हो इतना ही तप करना चाहिए। इस तरह सारी बातें ध्यान में रखते हुए तपश्चरण करने से कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की सिद्धि होती है अन्यथा, परिणामों में क्लेश हो जाने से कर्म बन्ध जाता है। यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रारम्भ में उपवास, कायक्लेश आदि को करने में परिणामों में कुछ क्लेश हो सकता है किन्तु अभ्यास के समय उससे घबराना नहीं चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ाते रहने से बड़े-बड़े उपवास और कायक्लेश आदि सहज होने लगते हैं।

अब तप आचार के अधिकार का उपसंहार करते हुए और वीर्याचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—अन्तरंग को शुद्ध करने वाला यह अन्तरंग तप कहा गया है। इसके बाद संक्षेप से वीर्याचार का वर्णन करूँगा।।४१२।।

आचारवृत्ति—भावों को शुद्ध करने के लिए यह अभ्यन्तर तप कहा गया है और इसकी सिद्धि के लिए बाह्य तप को भी कहा है। अब इसके बाद मैं वीर्याचार को थोड़े रूप में कहूँगा।

---

१. मूलाचार भाग-१, पृ. २८२ से ३२३ तक।

द्वादशतप

(तत्त्वार्थवार्तिक से[१])

आह—उक्तं चारित्रम्, तदन्तर मुद्दिष्टं यत् ''तपसा निर्जरा च'' (९/३) इति, तस्येदानीं तपसो विधानं कर्त्तव्यमिति; अत्रोच्यते—तद् द्विविधं बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्येकं षड्विधम्, तत्र बाह्यस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन
कायक्लेशा बाह्यं तपः।।१९।।

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनवचनम्।।१।। यत्किञ्चिद् दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। तत्किमर्थम् ? संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमवसेयम्।

तद् द्विविधम्—अवधृतानवधृतकालभेदात्।२। तदनशनं द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः ? अवधृताऽनवधृतकालभेदात्। तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनं। चतुर्थभक्तादि, अनवधृतकालमादेहोपरमात्।

चारित्र का वर्णन तो कर दिया, अब चारित्र के अनन्तर जो 'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तप से भी संवर होता है और तप से निर्जरा भी होती है अतः अब उस तप का विधान करना योग्य है। उसी का वर्णन करते हैं—वह तप अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्येक के छह-छह भेद हैं। उनमें बाह्य तप के छह भेदों का वर्णन करते हैं—

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश, ये छह बहिरंग तप हैं।।१९।।

लौकिक सुख, मंत्रसाधनादि दृष्टफल की अपेक्षा बिना संयम की सिद्धि, इन्द्रिय विषय सम्बन्धी राग के उच्छेद, कर्मों के विनाश, ध्यान की सिद्धि और आगम ज्ञान की प्राप्ति के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास (**अनशन**) कहलाता है।।१।।

अवधृतकाल (नियतकालिक) और अनवधृतकाल के भेद से अनशन दो प्रकार का है। दिन में एक बार भोजन करना, चतुर्थभक्त (एक उपवास का नाम चतुर्थभक्त है, क्योंकि इसमें एक भुक्ति पहले दिन की, दो उपवास के दिन की और एक पारणा के दिन की; इस प्रकार चार भुक्ति का त्याग होता है। एक दिन में दो भुक्ति होती है, इसी प्रकार दो उपवास को षष्ठभक्त, तेला को अष्टभक्त आदि कहते हैं।) आदि नियतकालिक वा अवधृतकालिक उपवास है, क्योंकि इसमें काल की मर्यादा है। यावज्जीवन (शरीरत्याग पर्यन्त) अन्न-पानी का त्याग करना अनवधृतकालिक अनशन है।।२।।

१. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-२, पृ० ६२२ से ६२८ तक।

संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्यार्थमवमोदर्यम्।३। आशितंभवो य ओदनः तस्य चतुर्भागेनार्द्धग्रासेन वा अवममूनं उदरमस्यासाववमोदरः, अवमोदरस्य भावः कर्म वा अवमोदर्यम्। तत्किमर्थम् ? संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्याय-सुखसिद्ध्यर्थम्।

एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्।४। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चिन्तावरोधः वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्।

दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः।५। दान्तेन्द्रियत्वं तेजोऽहानिः संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थं घृतदधिगुडतैलादिरसत्यजनं रसपरित्याग इत्युच्यते।

रसवत्परित्याग इति चेत्; न; मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात्।६। स्यान्मतम्-रस-शब्दोऽयं गुणवाची, तद्वतश्चात्र परित्याग इष्ट इति तस्माद्रसवत्परित्याग इति निर्देशः कर्त्तव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात्। लुप्तनिर्दिष्टोऽत्र मतुः यथा शुक्लः पट इति।

संयम को जागृत करने के लिए, दोषों को शांत करने के लिए, सन्तोष, स्वाध्याय एवं सुख की सिद्धि के लिए **अवमौदर्य** होता है। तृप्ति के लिए पर्याप्त भोजन में से चतुर्थांश या दो-चार ग्रास कम खाना अवमोदर है और अवमोदर का भाव या कर्म अवमौदर्य कहलाता है।

प्रश्न—अवमौदर्य किसलिए किया जाता है ?

उत्तर—संयम की जागरुकता, दोषप्रशम, संतोष, स्वाध्याय और सुख की सिद्धि आदि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है अर्थात् अवमौदर्य तप से स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है।।३।।

एक घर, सात घर, एक गली (एक मोहल्ला), अर्द्धग्राम आदि के विषय का संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। आशा-तृष्णा की निवृत्ति के लिए भिक्षा को जाते समय साधु का एक, दो, तीन, सात आदि घर-गली, ग्राम, दाता, भोज्यपदार्थ आदि का नियम कर लेना **वृत्तिपरिसंख्यान** तप है।।४।।

जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि, संयम में बाधा की निवृत्ति आदि के लिए घी, दूध, दही, गुड़, नमक, तेल आदि रसों का परित्याग करना **रसपरित्याग** तप कहलाता है।।५।।

प्रश्न—यह रस शब्द गुणवाची है अतः रस का त्याग नहीं, रस वाले का त्याग कहना चाहिए। रसपरित्याग न कह करके रसवत्परित्याग कहना चाहिए ?

उत्तर—रस शब्द गुणवाची है अतः गुणत्याग न होकर गुण वाली वस्तु का ही त्याग होता है परन्तु जैसे 'शुक्लवान् पटः' न कहकर 'शुक्लः पटः' कहा जाता है, 'मतु' 'वान्' प्रत्यय का लोप किया है, उसी प्रकार 'मतु' प्रत्यय का लोप समझना चाहिए।।६।।

अव्यतिरेकाद्वा तद्वत्संप्रत्ययः।७। अथवा, न गुणं व्यतिरिच्य गुणी वर्तते, ततः सामर्थ्यात्तद्वन्निर्देशः प्रतिपत्तव्यः। द्रव्यत्यागमुखेन रसपरित्यागो नान्यथेति।

सर्वत्यागप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रकर्षगतेः।८। स्यादेतत्—सर्वमुपभोगार्हं पुद्गलद्रव्यं रसवत्, अतः सर्वत्यागः प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? प्रकर्षगतेः। यथा अभिरूपाय कन्या देयेति अभिरूपतमे संप्रत्ययो भवति तथा सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य रसवत्त्वात् प्रकृष्टरसत्यागसंप्रत्ययो भवति। कश्चिदाह—

अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथगनिर्देशः।९।

वृत्तिपरिसंख्यानमिदं सामान्यभिक्षाचरणे नियमकारित्वात्। अतः अनशनावमोदर्यरसपरित्यागानां तेनैवावरुद्धत्वात् पृथङ् निर्देशोऽनर्थकः।

तद्विकल्पनिर्देश इति चेत्; न; अनवस्थनाम्।१०। अथ मतम्—तस्य वृत्तिपरिसंख्यानस्य विकल्पा निर्देष्टव्या इति पृथगुपदेशः कर्तव्य इति; तन्न; किं कारणम् ? अनवस्थानात्।

अथवा, अव्यतिरेक होने से तद्वान् का बोध हो जाता है। गुण को छोड़कर गुणी पृथक् नहीं रहता है अतः गुणी के कथन के सामर्थ्य से गुणवान् का बोध ही हो जाता है क्योंकि द्रव्य के त्याग से ही गुण रूप रस का परित्याग होता है, गुणवान् द्रव्य का त्याग किए बिना रसादि गुणों के त्याग की असंभवता है।।७।।

प्रश्न—रसत्याग कहने से उपभोग के योग्य सर्व वस्तुओं का त्याग हो जाता है क्योंकि सर्व पुद्गल रूप-रस वाले हैं ?

उत्तर—यद्यपि सब पुद्गल रस वाले हैं पर यहाँ प्रकर्ष रस वाले द्रव्य की विवक्षा है, जैसे कि 'अधिक रूप वाले को कन्या देनी चाहिए' यहाँ सुन्दर या विशिष्ट रूपवान् की विवक्षा है, उसी प्रकार सब पुद्गल रस वाले होने पर रसपरित्याग में प्रकृष्ट रस करने की विवक्षा है अतः प्रकृष्ट रसत्याग का बोध होता है।।८।।

प्रश्न—अनशन, अवमौदर्य और रसपरित्याग रूप तपों का वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप से अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि सामान्य भिक्षा के आचरण में नियमकारी (प्रतिबन्ध लगाने वाला) वृत्तिपरिसंख्यान तप है अतः अनशन, अवमौदर्य और रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान तप से व्याप्त होने से इनका पृथक् कथन करना निरर्थक है ?।।९।।

अथवा, वृत्तिपरिसंख्यान के भेद मानकर अनशन आदि का पृथक् निर्देश करना भी उचित नहीं है क्योंकि अनशन, अवमौदर्य और रसपरित्याग को वृत्तिपरिसंख्यान के विकल्प मानने पर तो गिनती की कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी ? ।।१०।।

न वा, कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वाद् वृत्तिपरिसंख्यानस्य।११। न वा एष दोषः; किं कारणम् ? भिक्षाचरणे प्रवर्तमानः साधुः एतावत्क्षेत्रविषयां कायचेष्टां कुर्वीत कदाचिद्यथाशक्तीति विषयगणनार्थं वृत्तिपरिसंख्यानं क्रियते, अनशनमभ्यवहर्त्तव्यनिवृत्तिः, एवं अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेदः।

आबाधात्यब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्तशय्यासनम्।१२। शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनं वेदितव्यम्। तत्किमर्थम् ? आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थम्।

कायपरिक्लेशः स्थानमौनातपनादिरनेकधा।१३। नानाविधप्रतिमास्थानं वाचयमत्वम् आतापनम् वृक्षमूल (वासः) इत्येवमादिना शरीरपरिखेदः कायक्लेशः इत्युच्यते। स किमर्थः ?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि कायचेष्टा के विषयों की गणना के लिए वृत्तिपरिसंख्यान का वर्णन है। भिक्षा करने में प्रवर्त्तमान साधु इतने क्षेत्र (घर) विषयक कायचेष्टा करता है अर्थात् कभी घर आदि का नियम करता है, कभी यथाशक्ति पंचेन्द्रियों के विषयों का दमन करने के लिए वृत्तिपरिसंख्यान किया जाता है वह करता है। इस प्रकार वृत्तिपरिसंख्यान तप में कायचेष्टा आदि का नियमन (निरोध) होता है परन्तु अनशन में (उपवास में) भोजन मात्र की निवृत्ति है, अवमौदर्य और रसपरित्याग में भोजन की आंशिक निवृत्ति है, आहार का एकदेशत्याग किया जाता है; अतः तीनों में महान् भेद है।।११।।

जन्तुबाधा का परिहार, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि के लिए निर्जन्तु शून्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानों में शय्या (सोना), आसन (बैठना) **विविक्तशय्यासन** है। विविक्त (एकान्त) में सोने -बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है, ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है और गमनागमन का अभाव होने से जीवों की रक्षा होती है।।१२।।

अनेक प्रकार के प्रतिमायोग (प्रतिमा के समान अचल, स्थिर रहना) धारण करना, मौन रखना, आतापन (ग्रीष्मकाल में सूर्य के सम्मुख खड़े रहना), वृक्षमूल (चातुर्मास में वृक्ष के नीचे चार महीना निश्चल बैठे रहना), सर्दी में नदीतट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट देना **कायक्लेश तप** है।

प्रश्न—यह कायक्लेश तप क्यों किया जाता है ?।।१३।।

उत्तर—देह को कष्ट देने की इच्छा, विषयसुख की अनासक्ति और प्रवचन (जिनधर्म) की प्रभावना के लिए कायक्लेश तप किया जाता है। कायक्लेश तप करने से

देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनार्थम्।१४। दुःखोपनिपाते सति तितिक्षार्थं विषयसुखे चानभिष्वङ्गार्थं प्रवचनप्रभावनाद्यर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं क्रियते। इतरथा हि ध्यानप्रवेशकाले सुखोचितस्य द्वन्द्वोपनिपाते सति समाधानं न स्यात्।

परीषहजातीयत्वात् पौनरुक्त्यमिति चेत्; न; स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात्।१५। स्यान्मतम्—अयं कायक्लेशः स्थानमौनादिः परीषहजातीयस्ततः पुनरुपदेशः पौनरुक्त्यं जनयतीति; तत्र; किं कारणम् ? स्वकृतकायक्लेशापेक्षत्वात्। बुद्धिपूर्वो हि कायक्लेश इत्युच्यते, यदृच्यते, यदृच्छयोपनिपाते परीषहः। दृष्टफलानपेक्षमित्येतत् सर्वत्रानुवर्त्तते। तत्तर्हि कर्तव्यम्—

सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः।१६। "**सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः**"(९।३।) इत्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र। बाह्यत्वमस्य कृतः ?

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद्बाह्यत्वम्।१७। बाह्यमशनादिद्रव्यमपेक्ष्य क्रियत इति बाह्यत्वमस्य ग्राह्यम्।

अकस्मात् शारीरिक कष्ट आने पर सहनशीलता बनी रहती है, विषयसुखों में आसक्ति नहीं होती है तथा धर्म की प्रभावना होती है अतः कायक्लेश तप करना चाहिए। यदि कायक्लेश तप का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो ध्यानादि के समय में सुखशील व्यक्ति को द्वन्द्व (दुःख, आपत्ति) आने पर चित्त का समाधान नहीं हो सकेगा यानी चित्त स्थिर नहीं रहेगा।।१४।।

प्रश्न—वृक्षमूल में स्थान, मौनधारण आदि रूप कायक्लेश तप परीषह की जाति का है अतः कायक्लेश तप का कथन पुनरुक्त दोष उत्पन्न करता है ?

उत्तर—कायक्लेश तप परीषहजातीय नहीं है; क्योंकि परीषह जब चाहे तब आते हैं और कायक्लेश बुद्धिपूर्वक किया जाता है या कायक्लेश में स्वकृत अपेक्षा है अतः बुद्धिपूर्वक कायक्लेश होता है, चाहे जब आने वाले परीषह होते हैं; यह कायक्लेश और परीषह में भेद है। दृष्टफलानपेक्ष की अनुवृत्ति सब तपो में करनी चाहिए अर्थात् सभी तपों में इहलौकिक फल की कामना नहीं होनी चाहिए।।१५।।

'**सम्यग्योगनिग्रहोगुप्ति**' इस सूत्र में जो 'सम्यग्' पद है उसका अनुवर्त्तन सब तपों में है अतः सम्यक् पद की अनुवृत्ति आने से दृष्टफलनिरपेक्षता का होना तपों में अनिवार्य है अथवा सर्व तपों में दृष्टफल की निवृत्ति हो जाती है।

शंका—इन तपों में बाह्यपना कैसे है ? अर्थात् ये तप बाह्य क्यों कहलाते हैं ?।।१६।।

समाधान—बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से ये बाह्य कहलाते हैं अर्थात् ये अनशन आदि तप बाह्य द्रव्यों की (आहारत्याग, स्वल्पाहार, घरों की संख्या नियत

परप्रत्यक्षत्वात्।१८। परेषां खल्वप्यनशनादि प्रत्यक्षं भवति, ततश्चास्य बाह्यत्वम्।

तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च।१९। अनशनादिहितीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्। कथं तर्ह्येतदनशनादि तप इत्युच्यते ?

कर्मनिर्दहनात्तपः।२०। यथाऽग्निः सञ्चितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते।

देहेन्द्रियतापाद्वा।२१। अथवा, देहस्येन्द्रियाणां च तापं करोतीत्यनशनादि (अतः) तप इत्युच्यते। तत्तापादिन्द्रियनिग्रहः सुकरो भवति।

उक्तं बाह्य तपः, अथाभ्यन्तरस्य के भेदा इति ? अत्रोच्यते—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।।२०।।

कुतः पुनरुत्तरत्वम् ?

अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्।१। यतोऽन्यैस्तीर्थ्यैरनभ्यस्तमनालीढं ततोऽस्यो-त्तरत्वम्, अभ्यन्तरमिति यावत्।

करना, रस छोड़ना आदि) अपेक्षा करके किए जाते हैं इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं। और भी—।।१७।।

ये तप दूसरों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय हैं तथा इन तपों को मुनीश्वर भी करते हैं और गृहस्थ भी, सम्यग्दृष्टि भी और मिथ्यादृष्टि भी, इसलिए भी इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

प्रश्न—इन अनशनादि को तप क्यों कहते हैं ?।।१८-१९।।

उत्तर—कर्मों को जलाते हैं, भस्म करते हैं इसलिए इनको तप कहते हैं। जैसे—अग्नि सञ्चित तृणादि ईंधन को भस्म कर देती है, जला देती है उसी प्रकार ये तप मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय आदि के द्वारा अर्जित कर्म रूप ईंधन को भस्म कर देते हैं, जला देते हैं, नष्ट कर देते हैं इसलिए इनको तप कहते हैं।।२०।।

अथवा, इन्द्रिय और शरीर को ताप देते हैं, इन्द्रियों की विषयप्रवृत्ति का निरोध करके अनशनादि तप शरीर और इन्द्रियों को तपा देते हैं इसलिए अनशनादि को तप कहते हैं। इन अनशनादि बाह्य तपों के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह सहज हो जाता है।।२१।।

इस प्रकार बाह्य तपों का वर्णन करके अब अन्तरंग तप और उसके भेद कहते हैं—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये उत्तर यानी अन्तरंग तप हैं।।२०।।

प्रश्न—इन तपों को उत्तर (अन्तरंग) क्यों कहते हैं ?

अन्तःकरणव्यापारात्।२। प्रायश्चित्तादितपः अन्तःकरणव्यापारालम्बनं ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम्।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च।३। न हि बाह्यद्रव्यमपेक्ष्य वर्तते प्रायश्चित्तादि, ततश्चास्याभ्यन्तरत्वमवसेयम्[१]।

उत्तर—ये प्रायश्चित्त आदि अन्य मतावलम्बियों के द्वारा अनभ्यस्त हैं, उनसे नहीं किए जाते हैं, उन मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्य हैं, अतः इनको उत्तर और अभ्यन्तर तप कहते हैं।।१।।

ये प्रायश्चित्तादि तप अन्तःकरण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते हैं इसलिए इनके अभ्यन्तरत्व है।।२।।

अथवा, ये प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते हैं इसलिए अभ्यन्तर कहलाते हैं, कर्मों की निर्जरा करने के लिए इन अभ्यन्तर तपों को करना चाहिए।।३।।

१. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-२, पृ० ६२२ से ६२८ तक।

द्वादशतप

(सवार्थसिद्धि से[१])

तपसो विधानं कर्तव्यमित्यत्रोच्यते। तद् द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्प्रत्येकं षड्विधम्। तत्र बाह्यभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।।१९।।

८५६. दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम्। संयमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम्। भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पः चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। इन्द्रियदर्पनिग्रह-निद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थो घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थ तपः। शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्याशनमाबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादि-प्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पंचमं तपः। आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः

तप को कहते हैं—वह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। उसमें भी यह प्रत्येक छह प्रकार का है। उनमें से पहले बाह्य तप के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकार का बाह्य तप है।।१९।।

८५६. दृष्टफल मन्त्र साधना आदि की अपेक्षा किए बिना संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए अनशन तप किया जाता है। संयम को जागृत रखने, दोषों के प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है। भिक्षा के इच्छुक मुनि का एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ता का अवरोध करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। आशा की निवृत्ति इसका फल जानना चाहिए। इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए और सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए घृतादि गरिष्ठ रस का त्याग करना चौथा तप है। एकान्त, जन्तुओं की पीड़ा से रहित शून्य घर आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की प्रसिद्धि के लिए संयत को शय्यासन लगाना चाहिए। यह पाँचवाँ तप है। आतापनयोग, वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार के प्रतिमास्थान इत्यादि करना कायक्लेश है, यह छठा तप है। यह किसलिए किया जाता है ? यह देह-दुःख को सहन करने के लिए, सुखविषयक

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ. ३४५ से ३६१ तक।

तत् षष्ठं तपः। तत्किमर्थम् ? देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनाद्यर्थम्। परिषहस्यास्य च को विशेषः ? यदृच्छयोपनिपतितः परिषहः। स्वयंकृतः कायक्लेशः। बाह्यत्वमस्य कृतः ? बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।

८५७. आभ्यन्तरतपोभेदप्रदर्शनार्थमाह—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।।२०।।

८५८. कथमस्याभ्यन्तरत्वम् ? मनोनियमनार्थत्वात्। प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम्। पूज्येष्वादरो विनयः। कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्त्यम्। ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः। आत्मात्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्।

८५९. तद्भेदप्रतिपादनार्थमाह—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।।२१।।

आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन की प्रभावना करने के लिए किया जाता है।

शंका—परीषह और कायक्लेश में क्या अन्तर है ?

समाधान—अपने आप प्राप्त हुआ परीषह और स्वयं किया गया कायक्लेश है, यही इन दोनों में अन्तर है।

शंका—इस तप को बाह्य क्यों कहते हैं ?

समाधान—यह बाह्य-द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरों के देखने में आता है, इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं।

८५७. अब आभ्यन्तर तप के भेदों को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।।२०।।

८५८. **शंका**—इसे आभ्यन्तर तप क्यों कहते हैं ?

समाधान—मन का नियमन करने वाला होने से इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। प्रमादजन्य दोष का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। शरीर की चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्त्य तप है। आलस्य का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है। अहंकार और ममकार रूप संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है तथा चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है।

८५९. अब इनके भेदों को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

ध्यान से पूर्व के आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से नौ, चार, दश, पांच और दो भेद हैं।।२१।।

८६०. सूत्र में 'यथाक्रमम्' यह वचन दिया है। इससे प्रायश्चित्त नौ प्रकार का है, विनय चार प्रकार का है, वैयावृत्त्य दश प्रकार का है, स्वाध्याय पाँच प्रकार का है और

८६०. 'यथाक्रमम्' इति वचनान्नवभेदं प्रायश्चित्तम्, विनयश्चतुर्विधः, वैयावृत्त्यं दशविधम् स्वाध्यायः पञ्चविधः, द्विभेदो व्युत्सर्ग इत्यभिसंबध्यते। 'प्राग्ध्यानात्' इति वचनं ध्यानस्य बहुवक्तव्यत्वात्पश्चाद्वक्ष्यत इति।

८६१. आद्यस्य भेदस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः।।२२।।

८६२. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम्। मिथ्यदुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्। तदुभय संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम्। संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः। कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। अनशनावमौदर्यादिलक्षणं तपः।

व्युत्सर्ग दो प्रकार का है ऐसा सम्बन्ध होता है। सूत्र में—'प्राग्ध्यानात्' यह वचन दिया है क्योंकि ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहना है, इसलिए उसका आगे कथन करेंगे।

८६१. अब पहले आभ्यन्तर तप के भेदों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है।।२२।।

८६२. गुरु के समक्ष दश दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है। 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन होने से तदुभय प्रायश्चित्त है। संसक्त हुए अन्न, पान और उपकरण आदि का विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है। दिवस, पक्ष और महीना आदि की प्रव्रज्या का छेद करना छेद प्रायश्चित्त है। पुनः दीक्षा का प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

विशेषार्थ—यहाँ प्रायश्चित्त के नौ भेद गिनाए हैं। प्रायः शब्द का अर्थ साधुलोक है। उसका जिस कर्म में चित्त होता है वह प्रायश्चित्त कहलाता है अथवा प्रायः शब्द का अर्थ अपराध है और चित्त शब्द का अर्थ शुद्धि है, इसलिए प्रायश्चित्त का अर्थ अपराधों का शोधन करना होता है। ये ही वे नौ भेद हैं जिनके द्वारा साधु दोषों का परिमार्जन करता है। पहला भेद आलोचना है। आलोचना इन दश दोषों से रहित होकर की जाती है। दश दोष यथा—उपकरण देने पर मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार कर उपकरण प्रदान करना यह प्रथम आलोचना दोष है। मैं प्रकृति से दुर्बल हूँ, ग्लान हूँ, उपवास आदि नहीं

दिवसपक्षमासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः। पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। पुनर्दीक्षाप्रापणनुपस्थापना।

८६३. विनयविकल्पप्रतिपत्त्यर्थमाह—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।।२३।।

८६४. 'विनयः' इत्यधिकारेणाभिसंबन्धः क्रियते। ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति। सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। शंकादिदोषविरहितं

कर सकता। यदि लघु प्रायश्चित्त दें तो दोष कहूँगा, ऐसा कहना दूसरा दोष है। अन्य अदृष्ट (गुप्त) दोषों को छिपाकर प्रकाश में आए हुए दोष का निवेदन करना तीसरा मायाचार दोष है। आलस्यवश या प्रमादवश अपने अपराधों की जानकारी प्राप्त करने में निरुत्सुक होने पर स्थूल दोष कहना चौथा दोष है। महादुश्चर प्रायश्चित्त के भय से महादोष छिपाकर उससे हल के दोष का ज्ञान कराना पाँचवाँ दोष है। व्रत में इस प्रकार दोष लगने पर हमें क्या प्रायश्चित्त करना पड़ेगा इस विधि से गुरु की उपासना करना छठा दोष है। पाक्षिक और चातुर्मासिक आदि क्रिया कर्म के समय बहुत साधुओं द्वारा किए जाने वाले आलोचनाजन्य शब्दों से प्रदेश के व्याप्त होने पर पूर्व दोष कहना सातवाँ दोष है। गुरु द्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त क्या युक्त है, आगम में इसका विधान है या नहीं, इस प्रकार की शंका अन्य साधु के समक्ष प्रकट करना आठवाँ दोष है। किसी प्रयोजनवश अपने समान साधु के समक्ष दोष कहकर प्रायश्चित्त लेना नौवाँ दोष है। इस विधि से लिया हुआ बड़ा से बड़ा प्रायश्चित्त भी फलदायक नहीं होता। मेरा दोष इसके अपराध के समान है। इसे यह भी जानता है। इसे जो प्रायश्चित्त मिलेगा वह मुझे भी युक्त है इस प्रकार अपने दोष को छिपाना दसवाँ दोष है।

अन्यत्र इन दश दोषों के आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये नाम आए हैं। प्रायश्चित्त का दूसरा भेद प्रतिक्रमण है। मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण है। यह शिष्य करता है और गुरु के द्वारा जो आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है वह तदुभय कहलाता है। यह प्रायश्चित्त का तीसरा भेद है। आगे के प्रायश्चित्तों के जिनके जो नाम हैं तदनुसार उनका स्वरूप है। यहाँ प्रायश्चित्त के ये नौ भेद कहे हैं किन्तु मूलाचार में इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इस प्रकार दस भेद किए हैं। टीकाकार ने इनका स्पष्टीकरण करते समय मूल का वही अर्थ किया है जो यहाँ उपस्थापना का किया गया है तथा मानसिक दोष के होने पर

तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः। प्रत्य-क्षेष्वाचार्यादिष्व-भ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिरंजलिक्रियागुण-संकीर्तनानुस्मरणादिः।

८६५. वैयावृत्त्यभेदप्रतिपादनार्थमाह—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्।।२४।।

८६६. वैयावृत्त्यं दशधा भिद्यते। कृतः ? विषयभेदात्। आचार्यवैयावृत्त्यमुपाध्याय-वैयावृत्त्यमित्यादि। तत्र आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। शिक्षाशीलः शैक्षः। रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। गणः स्थविरसंततिः। दीपकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम्। चातुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः। चिरप्रव्रजितः

उसके परिमार्जन के लिए 'मेरा दोष मिथ्या हो' ऐसा अभिव्यक्त करने को श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त बतलाया है।

८६३. विनय के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय यह चार प्रकार का विनय है।।२३।।

८६४. अधिकार के अनुसार 'विनय' इस पद का सम्बन्ध होता है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। बहुत आदर के साथ मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है। शंकादि दोषों से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना दर्शनविनय है। सम्यग्दृष्टि का चारित्र में चित्त का लगना चारित्रविनय है तथा आचार्य आदिक के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचारविनय है तथा उनके परोक्ष में भी काय, वचन और मन से नमस्कार करना, उनके गुणों का कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचारविनय है।

८६५. अब वैयावृत्त्य के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्त्य के भेद से वैयावृत्त्य दश प्रकार का है।।२४।।

८६६. वैयावृत्त्य के दश भेद हैं, क्योंकि उसका विषय दश प्रकार का है। यथा—आचार्य वैयावृत्त्य और उपाध्याय वैयावृत्त्य आदि। जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है। मोक्ष के लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वह उपाध्याय कहलाता है। महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाला तपस्वी कहलाता है। शिक्षाशील शैक्ष कहलाता है। रोग आदि से क्लान्त शरीर वाला ग्लान कहलाता है।

साधुः। मनोज्ञो लोकसंमतः। तेषां व्याधिपरिषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम्।

८६७. स्वाध्यायविकल्पविज्ञानार्थमाह—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।।२५।।

८६८. निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना। संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः प्रच्छना। अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। स एष पञ्चविधः स्वाध्यायः किमर्थः ? प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः।

८६९. व्युत्सर्गभेदनिर्ज्ञानार्थमाह—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।।२६।।

स्थविरों की सन्तति को गण कहते हैं। दीक्षकाचार्य के शिष्यसमुदाय को कुल कहते हैं। चार वर्ण के श्रमणों के समुदाय को संघ कहते हैं। चिरकाल से प्रव्रजित को साधु कहते हैं। लोकसम्मत साधु को मनोज्ञ कहते हैं। इन्हें व्याधि होने पर, परीषह के होने पर व मिथ्यात्व आदि के प्राप्त होने पर शरीर की चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्य द्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्त्य तप है। यह समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

८६७. स्वाध्याय के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय है।।२५।।

८६८. ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का निर्दोष प्रदान करना वाचना है। संशय का उच्छेद करने के लिए अथवा निश्चित बल को पुष्ट करने के लिए प्रश्न करना पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुनः-पुनः दुहराना आम्नाय है और धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है।

शंका—यह पूर्वोक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय किसलिए किया जाता है ?

समाधान—प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तप में वृद्धि करने के लिए और अतीचारों में विशुद्धि लाने आदि के लिए किया जाता है।

८६९. अब व्युत्सर्ग तप के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

बाह्य और अभ्यन्तर उपधि का त्याग यह दो प्रकार का व्युत्सर्ग है।।२६।।

८७०. व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः। स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति। अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते। स किमर्थः ? निस्सङ्गत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थः।

८७१. यद् बहुवक्तव्यं ध्यानमिति पृथग्व्यवस्थापितं तस्येदानीं भेदाभिधानं प्राप्तकालम्। तदुल्लङ्घ्य तस्य प्रयोक्तृस्वरूपकालनिर्द्धारणार्थमुच्यते—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।।२७।।

८७२. आद्यं त्रितयं संहननमुत्तमं वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमिति।

---

८७०. व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है जिसका अर्थ त्याग होता है। वह दो प्रकार का है—बाह्य उपधित्याग और अभ्यन्तर उपधित्याग। आत्मा से एकत्व को नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि हैं और क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक काय का त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता है। यह निःसंगता, निर्भयता और जीविताशा का व्युदास आदि करने के लिए किया जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ यह प्रश्न होता है कि जबकि पाँच महाव्रतों में परिग्रहत्याग का उपदेश दिया है, दश धर्मों में त्याग धर्म का उपदेश दिया है तथा नौ प्रकार के प्रायश्चित्तों में व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त अलग से कहा है ऐसी अवस्था में पुनः व्युत्सर्ग तप का अलग से कथन करना कोई मायने नहीं रखता क्योंकि इस प्रकार एक ही तत्त्व का पुनः-पुनः कथन करने से पुनरुक्त दोष आता है। समाधान यह है कि पाँच महाव्रतों में जो परिग्रह त्याग महाव्रत है उसमें गृहस्थसम्बन्धी उपधि के त्याग की मुख्यता है। त्यागधर्म में आहारादिविषयक आसक्ति के कम करने की मुख्यता है, व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में परिग्रह त्याग धर्म में लगने वाले दोष के परिमार्जन की मुख्यता है और व्युत्सर्ग तप में वसतिका आदि बाह्य व मनोविकार तथा शरीर आदि अभ्यन्तर उपधि में आसक्ति के त्याग की मुख्यता है, इसलिए पुनरुक्त दोष नहीं आता।

८७१. जो बहुवक्तव्य ध्यान पृथक् स्थापित कर आए हैं उसके भेदों का कथन करना इस समय प्राप्तकाल है तथापि उसे उल्लंघन करके इस समय ध्यान के प्रयोक्ता, स्वरूप और काल का निर्धारण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।।२७।।

८७२. आदि के वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये तीन संहनन उत्तम हैं। ये तीनों ही ध्यान के साधन हैं। मोक्ष का साधन तो प्रथम ही है।

तत्त्रितयमपि ध्वानस्य साधनं भवति। मोक्षस्य तु आद्यमेव। तदुत्तमं संहननं यस्य सोऽयमुत्तमसंहननः, तस्योत्तमसंहननस्येति। अनेन प्रयोक्तृनिर्देशः कृतः। अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्रः। नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवति। मुहूर्त इति कालपरिमाणम्। अन्तर्गतो मुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्तः। 'आ अन्तर्मुहूर्तात्' इत्यनेन कालावधिः कृतः। ततः परं दुर्धरत्वादेकाग्रचिन्तायाः। चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं, निरोधश्चाभावः, तेन ध्यानमसत्खरविषाणवत्स्यात् ? नैष दोषः, अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षयासदिति चोच्यते, स्वविषयाकारप्रवृत्तेः सदिति च; अभावस्य भावान्तरत्वाद् हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च। अथवा नायं भावसाधनः, निरोधनं निरोध इति। किं तर्हि ? कर्मसाधनः, :निरुध्यत इति निरोधः'। चिन्ता चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोध इति। एतदुक्तं भवति—ज्ञनमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति।

८७३. तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।।२८।।

जिसके ये उत्तम संहनन होते हैं वह उत्तम संहनन वाला कहलाता है। उस उत्तम संहनन वाले के यहाँ इस पद द्वारा प्रयोक्ता का निर्देश किया है। 'अग्र' पद का अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखों से लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषय में नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है। इसके द्वारा ध्यान का स्वरूप कहा गया है। मुहूर्त यह काल का विवक्षित परिमाण है। जो मुहूर्त के भीतर होता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। 'अन्तर्मुहूर्त काल तक' इस पद द्वारा काल की अवधि की गयी है। इतने काल के बाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर होती है।

शंका—यदि चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है और निरोध अभावस्वरूप होता है इसलिए गधे के सींग के समान ध्यान असत् ठहरता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्य चिन्ता की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूप से प्रवृत्ति होने के कारण वह सत् कहा जाता है, क्योंकि अभाव भावान्तरस्वभाव होता है और अभाव वस्तु का धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व विपक्षव्यावृत्ति इत्यादि हेतु के अंग आदि के द्वारा सिद्ध होती है। अथवा, यह निरोध शब्द 'निरोधनं निरोधः' इस प्रकार भावसाधन नहीं है। तो क्या है ? 'निरुध्यत इति निरोधः'—जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्मसाधन है। चिन्ता का जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

८७३. अब उसके भेद दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं।।२८।।

८७४. ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्। धर्मो व्याख्यातः। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः ? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तमपुण्यास्रव-कारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्।

८७५. किं पुनस्तदिति चेदुच्यते—

परे मोक्षहेतू।।२९।।

८७६. परमुत्तरमन्त्यम्। अन्त्यं शुक्लम्। तत्सामीप्याद्धर्म्यमपि 'परम' इत्युपचर्यते। द्विवचननिर्देशयामर्थ्याद् गौणमपि गृह्यते। 'परे मोक्षहेतू' इति वचनात्पूर्वे आर्तरौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति। कुतः ? तृतीयस्य साध्यस्याभावात्।

८७७. तत्रार्तं चतुर्विधम्। तत्रादिविकल्पलक्षणनिर्देशार्थमाह—

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।।३०।।

---

८७४. आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ऋत का अर्थ दुःख है और अर्ति की 'अर्दनं अर्तिः' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें (ऋत में या अर्ति में) जो होता है वह आर्त है। रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। इसका कर्म या इसमें होने वाला रौद्र है। धर्म का व्याख्यान पहले कर आए हैं। जो धर्म से युक्त होता है वह धर्म्य है तथा जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है वह शुक्ल है। यह चार प्रकार का ध्यान दो भागों में विभक्त है क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार का है। जो पापास्रव का कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मों के निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त है वह प्रशस्त है।

८७५. तो वह क्या, ऐसा प्रश्न करने पर आगे का सूत्र कहते हैं—

उनमें से पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।।२९।।

८७६. पर, उत्तर और अन्त्य इनका एक अर्थ है। अन्तिम शुक्लध्यान है और इसका समीपवर्ती होने से धर्म्यध्यान भी पर है ऐसा उपचार किया जाता है क्योंकि सूत्र में 'परे' यह द्विवचन दिया है इसलिए उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण होता है। 'पर अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ये मोक्ष के हेतु हैं, इस वचन से पहले के अर्थात् आर्त और रौद्र ये संसार के हेतु हैं यह तात्पर्य फलित होता है क्योंकि मोक्ष और संसार के सिवाय और कोई तीसरा साध्य नहीं है।

८७७. उनमें आर्तध्यान चार प्रकार का है। उनमें से प्रथम भेद के लक्षण का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिन्तासातत्य का होना प्रथम आर्तध्यान है।।३०।।

८७८. अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि, तद्बाधाकरणत्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते। तस्य संप्रयोगे, स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते।

८७९. द्वितीयस्य विकल्पस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

विपरीतं मनोज्ञस्य।।३१।।

८८०. कुतो विपरीतम् ? पूर्वोक्तात्। तेनैतदुक्तं भवति—मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदार-धनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तमवगन्तव्यम्।

८८१. तृतीयस्य विकल्पस्य लक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनायाश्च।।३२।।

८८२. 'वेदना' शब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनायां प्रवर्तते, तस्या वातादिविकारजनितवेदनाया उपनिपाते तस्य अपायः कथं नाम मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तृतीयमार्तमुच्यते।

---

८७८. अमनोज्ञ का अर्थ अप्रिय है। विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे बाधा के कारण होने से अमनोज्ञ कहे जाते हैं। उनका संयोग होने पर 'वे मेरे कैसे न हों' इस प्रकार का संकल्प चिन्ताप्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्तध्यान कहलाता है।

८७९. अब दूसरे भेद के लक्षण का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।।३१।।

८८०. किससे विपरीत ? पूर्व में कहे हुए से। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनोज्ञ अर्थात् इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धनादिक के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान जानना चाहिए।

८८१. अब तीसरे भेद के लक्षण का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है।।३२।।

८८२. वेदना शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनों अर्थों में विद्यमान है पर यहाँ आर्तध्यान का प्रकरण होने से उससे दुःखवेदना ली गयी है। वातादि विकारजनित दुःख वेदना के होने पर उसका अभाव मेरे कैसे होगा इस प्रकार विकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान कहा जाता है।

८८३. तुरीयस्यार्तस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

निदानं च।।३३।।

८८४. भोगाकाङ्क्षातुरस्यानागतविषयप्राप्ति प्रति मनःप्रणिधानं संकल्पश्चिन्ता-प्रबन्धस्तुरीयमार्त निदानमित्युच्यते।

८८५. तदेतच्चतुर्विधमार्त किंस्वामिकमिति चेदुच्यते—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।।३४।।

८८६. अविरता असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः। देशविरताः संयतासंयताः। प्रमत्तसंयताः पंचदशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः। तत्राविरतदेशविरतानां चतुर्विधमप्यार्त भवति; असंयमपरिणामोपेतत्वात्। प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्स्यात्।

८८७. व्याख्यातमार्त संज्ञादिभिः। द्वितीयस्य संज्ञाहेतुस्वामिनिर्द्धारणार्थमाह—

---

८८३. अब चौथे आर्तध्यान के लक्षण का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

निदान नाम का चौथा आर्तध्यान है।।३३।।

८८४. भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए मनःप्रणिधान का होना अर्थात् संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नाम का चौथा आर्तध्यान कहा जाता है।

८८५. इस चार प्रकार के आर्तध्यान का स्वामी कौन है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के होता है।।३४।।

८८६. असंयतसम्यदृष्टि गुणस्थान तक के जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव देशविरत कहलाते हैं और पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से युक्त क्रिया करने वाले जीव प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। इनमें से अविरत और देशविरत जीवों के चारों ही प्रकार का आर्तध्यान होता है क्योंकि ये असंयमरूप परिणाम से युक्त होते हैं। प्रमत्तसंयतों के तो निदान के सिवाय बाकी के तीन प्रमाद के उदय की तीव्रतावश कदाचित् होते हैं।

विशेषार्थ—पुराण साहित्य में मुनियों द्वारा निदान करने के कई उदाहरण हैं पर इन उदाहरणों से प्रमत्तसंयत अवस्था में उन साधुओं ने निदान किया ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए। एक तो भावलिंगी साधु के आगामी भागों की आकांक्षा होती ही नहीं और कदाचित् होती है तो उस समय से वह भावलिंगी नहीं रहता ऐसा अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

८८७. संज्ञा आदि के द्वारा आर्तध्यान का व्याख्यान किया। अब दूसरे ध्यान की संज्ञा, हेतु और स्वामी का निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः।।३५।।

८८८. हिंसादीन्युक्तलक्षणानि। तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो विज्ञायते। तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः 'स्मृतिसमन्वाहारः' अभिसंबध्यते। हिंसायाः स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। तद्रौद्रध्यानमविरतदेशविरतयोर्वेदितव्यम्। अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य कथम् ? तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद् भवितुमर्हति। तत्पुनर्नारकादीनामकारणं; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्। संयतस्य तु न भवत्येव; तदारम्भे संयमप्रच्युतेः।

८८९. आह, 'परे मोक्षहेतू' उपदिष्टे। तत्राद्यस्य मोक्षहेतोर्ध्यानस्य भेदस्वरूपस्वामि-निर्देशः कर्तव्य इत्यत आह—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्।।३६।।

८९०. विचयनं विचयो विवेको विचारणेत्यर्थः। आज्ञापायविपाकसंस्थानानां विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः। 'स्मृतिसमन्वाहारः' इत्यनुवर्तते। स प्रत्येकं संबध्यते—आज्ञाविचयाय

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है। वह अविरत और देशविरत के होता है।।३५।।

८८८. हिंसादिक के लक्षण पहले कह आए हैं। वे रौद्रध्यान की उत्पत्ति के निमित्त होते हैं। इससे हेतु निर्देश जाना जाता है। हेतु का निर्देश करने वाले इन हिंसादिक के साथ अनुवृत्ति को प्राप्त होने वाले 'स्मृतिसमन्वाहार' पद का सम्बन्ध होता है। यथा—हिंसा का स्मृतिसमन्वाहार आदि। यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरत के जानना चाहिए।

शंका—रौद्रध्यान अविरत के होवे देशविरत के कैसे हो सकता है ?

समाधान—हिंसादिक के आवेश से या वित्तादि के संरक्षण के परतन्त्र होने से कदाचित् उसके भी हो सकता है किन्तु देशविरत के होने वाला वह रौद्रध्यान नारकादि दुर्गतियों का कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन की ऐसी ही सामर्थ्य है। परन्तु संयत के तो वह होता ही नहीं है क्योंकि उसका आरम्भ होने पर संयम से पतन हो जाता है।

८८९. कहते हैं, अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं यह कह आए। उनमें से मोक्ष के हेतुरूप प्रथम ध्यान के भेद, स्वरूप और स्वामी का निर्देश करना चाहिए इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।।३६।।

८९०. विचयन करना विचय है। विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनका परस्पर द्वन्द्व समास होकर विचय शब्द के

स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। तद्यथा—उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं "**नान्यथावादिनो जिनाः**" इतिगहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। अथवा—स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते। जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः। अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः। कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः। उत्तमक्षमादिलक्षणो धर्म उक्तः। तस्मादनपेतं धर्म्यध्यानं चतुर्विकल्पमवसेयम्। तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति।

साथ षष्ठी तत्पुरुष समास है और इस प्रकार 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः' पद बना है। 'स्मृति समन्वाहारः' पद की अनुवृत्ति होती है और उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। यथा—आज्ञाविचय के लिए स्मृतिसमन्वाहार आदि। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से तथा पदार्थों के सूक्ष्म होने से तत्त्व के समर्थन में हेतु और दृष्टान्त का अभाव होने पर सर्वज्ञप्रणीत आगम को प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है अथवा स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए स्व-सिद्धान्त के अविरोध द्वारा तत्त्व का समर्थन करने के लिए उसका जो तर्क, नय और प्रमाण की योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञाविचय कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उनके सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। अथवा, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान ओर मिथ्याचारित्र से कैसे दूर होंगे, इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावनिमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाकविचय धर्म्यध्यान है तथा लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। पहले उत्तम क्षमादिरूप धर्म का स्वरूप कह आए हैं। उससे अनपेत अर्थात् युक्त धर्म्यध्यान चार प्रकार का जानना चाहिए। यह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों के होता है।

विशेषार्थ—संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर

उस भाव को स्थिर बनाए रखने के लिए सम्यग्दृष्टि का जो प्रणिधान होता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं। यह उत्तम क्षमादिरूप धर्म से युक्त होता है, इसलिए इसे धर्म्यध्यान कहते हैं। यहाँ निमित्तभेद से इसके चार भेद किए गए हैं। यथा—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। आज्ञाविचय तत्त्वनिष्ठा में सहायक होता है, अपायविचय संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति उत्पन्न करता है। विपाकविचय से कर्मफल और उसके कारणों की विचित्रता का ज्ञान दृढ़ होता है और संस्थानविचय से लोक की स्थिति का ज्ञान दृढ़ होता है।

मूल टीका में विपाकविचय के स्वरूप का निर्देश करते हुए जो द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि के निमित्त कर्मफल की चर्चा की है उसका आशय यह है कि यद्यपि कर्मों के उदय या उदीरणा से जीव के औदयिक भाव और विविध प्रकार के शरीरादिक की प्राप्ति होती है पर इन कर्मों की उदय और उदीरणा बिना अन्य निमित्त के नहीं होती किन्तु द्रव्य, क्षेत्र आदि का निमित्त पाकर ही कर्मों का उदय और उदीरणा होती है। आगे इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं। द्रव्यनिमित्त—मान लो एक व्यक्ति हँस खेल रहा है, वह अपने बाल-बच्चों के साथ गप्पागोष्ठी में तल्लीन है। इतने में अकस्मात् मकान की छत टूटती है और वह उससे घायल होकर दुःख का वेदन करने लगता है तो यहाँ उसके दुःखवेदन के कारणभूत असाता वेदनीय के उदय और उदीरणा में टूट कर गिरने वाली छत का संयोग निमित्त है। टूट कर गिरने वाली छत के निमित्त से उस व्यक्ति के असातवेदनीय की उदय-उदीरणा हुई और असातावेदनीय के उदय-उदीरणा से उस व्यक्ति को दुःख का अनुभवन हुआ यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के उदय-उदीरणा में बाह्य द्रव्य कैसे निमित्त होता है इसका विचार कर लेना चाहिए। कालनिमित्त—काल के निमित्त होने का विचार दो प्रकार से किया जाता है। एक तो प्रत्येक कर्म का उदय-उदीरणा काल और दूसरा वह काल जिसके निमित्त से बीच में ही कर्मों की उदय-उदीरणा बदल जाती है। आगम में अध्रुवोदय रूप कर्म के उदय-उदीरणा काल का निर्देश किया है उसके समाप्त होते ही विवक्षित कर्म के उदय-उदीरणा का अभाव होकर उसका स्थान दूसरे कर्म की उदय-उदीरणा ले लेती है। जैसे सामान्य से हास्य और रति का उत्कृष्ट उदय-उदीरणा काल छह महीना है। इसके बाद उनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोक की उदय-उदीरणा होने लगती है किन्तु छह महीना के भीतर यदि हास्य और रति के विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीच में ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है। यह कर्म का उदय-उदीरणा काल है। अब एक ऐसा जीव लो जो निर्भय होकर देशान्तर को जा रहा है किन्तु किसी दिन मार्ग में ही ऐसे

जंगल में रात्रि हो जाती है जहाँ हिंस्र जन्तुओ का प्राबल्य है और विश्राम करने के लिए कोई निरापद स्थान नहीं है। यदि दिन होता तो उसे रंचमात्र भी भय न होता किन्तु रात्रि होने से वह भयभीत होता है इससे इसके असाता, अरति, शोक और भय कर्म की उदय-उदीरणा होने लगती है। यह कालनिमित्तक उदय-उदीरणा है। इसी प्रकार क्षेत्र, भव और भावनिमित्तक उदय और उदीरणा जान लेनी चाहिए। कालप्राप्त कर्मपरमाणुओं के अनुभव करने को उदय कहते हैं और उदयावलि के बाहर स्थित कर्म परमाणुओं को कषायसहित या कषाय रहित योग संज्ञा वाले वीर्यविशेष के द्वारा उदयावलि में लाकर उनका उदय प्राप्त कर्मपरमाणुओं के साथ अनुभवन करने को उदीरणा कहते हैं। इस प्रकार कर्मपरमाणुओं का अनुभवन उदय और उदीरणा दोनों में लिया जाता है। यदि इनमें अन्तर है तो काल प्राप्त और अकालप्राप्त परमाणुओं का है। उदय में काल प्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं और उदीरणा में अकालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं। सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्म का उदय होता है वहाँ उसकी उदीरणा अवश्य होती है। फिर भी इनमें जो विशेषता है उसका यहाँ निर्देश करते हैं—मिथ्यात्व का उदय और उदीरणा मिथ्यात्व गुणस्थान में होती है। इतनी विशेषता है कि उपशम सम्यक्त्व के अभिमुख हुए जीव के अन्तिम आवली प्रमाण काल में मिथ्यात्व की उदीरणा नहीं होती, वहाँ मात्र उसका उदय होता है। एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन नौ प्रकृतियों की मिथ्यात्व गुणस्थान में ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी चतुष्क की प्रारम्भ के दो गुणस्थानों में ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्व की तीसरे गुणस्थान में ही उदय और उदीरणा होती है, अन्यत्र नहीं। अप्रत्याख्यान चार, नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक आंगोपांग, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति इन ग्यारह प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। नरकायु और देवायु की चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। मात्र मरण के समय अन्तिम आवलिकाल में उदीरणा नहीं होती। चार आनुपूर्वियों की प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान में ही उदय और उदीरणा होती है अन्यत्र नहीं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यंचगति, उद्योत और नीचगोत्र इन सात प्रकृतियों की संयतासंयत गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। तिर्यंच आयु की पाँचवें गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है। मात्र मरण के समय अन्तिम आवलि काल के शेष रहने पर उदय ही होता है उदीरणा नहीं। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, सातावेदनीय और असातावेदनीय इन पाँच प्रकृतियों की छठे गुणस्थान

तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। मात्र निद्रानिद्रादित्रिक की उदीरणा वही करता है जिसने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है। ऐसा जीव यदि उत्तर शरीर की विक्रिया करता है या आहारकसमुद्घात को प्राप्त होता है तो इन्हें प्राप्त होने के एक आवलि कालपूर्व से लेकर मूल शरीर में प्रवेश होने तक इन तीन की उदीरणा नहीं होती तथा देव, नारकी और भोगभूमियाँ जीव भी इन तीन की उदीरणा नहीं करते। आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का प्रमत्तसंयत में ही उदीरणा और उदय होता है, आगे पीछे नहीं। मनुष्यायु की छठे गुणस्थान तक उदीरणा और चौदहवें गुणस्थान तक उदय होता है। मात्र मरण के समय अन्तिम आवलि काल शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती। सम्यक्त्वप्रकृति की उदीरणा और उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक वेदकसम्यग्दृष्टि के होती है। मात्र कृतकृत्यवेद के काल में व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के उत्पत्तिकाल में एक आवलि शेष रहने पर उदय ही होता है उदीरणा नहीं। अन्त के तीन संहननों की उदीरणा व उदय सातवें गुणस्थान तक ही होता है आगे नहीं। हास्यादि छह की उदीरणा और उदय आठवें गुणस्थान तक होता है आगे नहीं। इतनी विशेषता है कि देवों के उत्पत्ति समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक हास्य और रति की नियम से उदीरणा होती है, आगे भजनीय है तथा नारकियों के उत्पत्ति समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक अरति और शोक की नियम से उदीरणा होती है, आगे भजनीय है। तीन वेद और क्रोधादि तीन संज्वलनों की उदीरणा व उदय नौवें के उपान्त्य भाग तक ही होती है आगे नहीं। इतनी विशेषता है कि जो जिस वेद के उदय से श्रेणी चढ़ता है उसके प्रथम स्थिति में एक आवलिकाल शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती। लोभसंज्वलन का दसवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होता है। मात्र दशवें गुणस्थान के अन्तिम आवलिकाल के शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती, उदय होता है। निद्रा और प्रचला की बारहवें गुणस्थान में एक समय अधिक एक आवलि काल शेष रहने तक उदय व उदीरणा दोनों होते हैं, आगे बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक इनका उदय ही होता है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का उदय तो बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है और उदीरणा बारहवें गुणस्थान में एक आवलि काल शेष रहने तक होती है। मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर, छह संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, दोनों विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, यशकीर्ति, निर्माण और उच्चगोत्र इन अड़तीस प्रकृतियों की तेरहवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होते हैं आगे नहीं तथा

८९१. त्रयाणां ध्यानानां निरूपणं कृतम्। इदानीं शुक्लध्यानं निरूपयितव्यम्। तद्वक्ष्यमाणचतुर्विकल्पम्। तत्राद्ययोः स्वामिनिर्देशार्थमिदमुच्यते—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।।३७।।

८९२. वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। 'च' शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र "**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः**" इति श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।

८९३. अवशिष्टे कस्य भवत इत्यत्रोच्यते—

परे केवलिनः।।३८।।

८९४. प्रक्षीणसकलज्ञानावरणस्य केवलिनः सयोगस्यायोगस्य च परे उत्तरे शुक्लध्याने भवतः।

८९५. यथासंख्यं तद्विकल्पप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

तीर्थंकर प्रकृति का तेरहवें गुणस्थान में ही उदीरणा व उदय होता है। इस प्रकार आज्ञा आदि के निमित्त से सतत चिन्तन करना धर्म्यध्यान है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

तीनों ध्यानों का कथन किया, इस समय शुक्लध्यान का कथन करना चाहिए, उसके आगे चार भेद कहने वाले हैं उनमें से आदि के दो भेदों के स्वामी का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद् के होते हैं।।३७।।

८९२. आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यान के भेदों में से आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं। सूत्र में 'च' शब्द आया है उससे धर्म्यध्यान का समुच्चय होता है। 'व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है' इस नियम के अनुसार श्रेणी चढ़ने से पूर्व धर्म्यध्यान होता है और दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

८९३. शेष के दो शुक्लध्यान किसके होते हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

शेष के दो शुक्लध्यान केवली के होते हैं।।३८।।

८९४. जिसके समस्त ज्ञानावरण का नाश हो गया है ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवली के पर अर्थात् अन्त के दो शुक्लध्यान होते हैं।

८९५. अब क्रम से शुक्लध्यान के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि।।३९।।

८९६. पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्विधं शुक्लध्यानम्। वक्ष्यमाणलक्षणमपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्वमवसेयम्।

८९७. तस्यालम्बनविशेषनिर्धारणार्थमाह —

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्।।४०।।

८९८. 'योग' शब्दो व्याख्यातार्थः 'कायवाङ्मनः कर्म योगः' इत्यत्र। उक्तैश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैस्त्रियोगादीनां चतुर्णां यथासंख्येनाभिसंबन्धो वेदितव्यः। त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम्, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति।

८९९. तत्राद्ययोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते —

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे।।४१।।

९००. एक आश्रयो ययोस्ते एकाश्रये। उभेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते, इत्यर्थः।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं।।३९।।

८९६. पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं। आगे कहे जाने वाले लक्षण की अपेक्षा सबका सार्थक नाम जानना चाहिए।

८९७. अब उसके आलम्बन विशेष का निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं–

वे चार ध्यान क्रम से तीन योग वाले, एक योग वाले, काययोग वाले और अयोग के होते हैं।।४०।।

८९८. 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' इस सूत्र में योग शब्द का व्याख्यान कर आए हैं। पूर्व में कहे गए शुक्लध्यान के चार भेदों के साथ त्रियोग आदि चार पदों का क्रम से सम्बन्ध जान लेना चाहिए। तीन योग वाले के पृथक्त्ववितर्क होता है। तीन योगों में से एक योग वाले के एकत्ववितर्क होता है। काययोग वाले के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है और अयोगी के व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है।

८९९. अब इन चार भेदों में से आदि के दो भेदों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं —

पहले के दो ध्यान एक आश्रय वाले, सवितर्क और सवीचार होते हैं।।४१।।

९००. जिन दो ध्यानों का एक आश्रय होता है वे एक आश्रय वाले कहलाते हैं। जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किए जाते

विकर्तश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ, सह वितर्कवीचाराभ्यां वर्तेत इति सवितर्कवीचारे। पूर्वे पृथक्त्वैकत्ववितर्के इत्यर्थः।

९०१. तत्र यथासंख्यप्रसंगेऽनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते —

अवीचारं द्वितीयम्।।४२।।

९०२. पूर्वयोर्यद् द्वितीयं तदवीचारं प्रत्येतव्यम्। एतदुक्तं भवति — आद्यं सवितर्क सवीचारं च भवति। द्वितीयं सवितर्कमवीचारं चेति।

९०३. अथ वितर्कवीचारयोः कः प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते —

वितर्कः श्रुतम्।।४३।।

९०४. विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः।

९०५. अथ को वीचारः।

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः।।४४।।

९०६. अर्थो ध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा। व्यञ्जनं वचनम्। योगः कायवाङ्मनः कर्मलक्षणः। संक्रान्तिः परिवर्तनम्। द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। एकं

हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। जो वितर्क और वीचार के साथ रहते हैं वे सवितर्कवीचार ध्यान कहलाते हैं। सूत्र में आए हुए पूर्व पद से पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान लिए गए हैं।

९०१. पूर्व सूत्र में यथासंख्य का प्रसंग होने पर अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं —

दूसरा ध्यान अवीचार है।।४२।।

९०२. पहले के दो ध्यानों में जो दूसरा ध्यान है वह अवीचार जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है तथा दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अवीचार होता है।

९०३. अब वितर्क और वीचार में क्या भेद है यह दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं —

वितर्क का अर्थ श्रुत है।।४३।।

९०४. विशेष रूप से तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क श्रुतज्ञान कहलाता है।

९०५. अब वीचार किसे कहते हैं यह बात अगले सूत्र द्वारा कहते हैं —

अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति वीचार है।।४४।।

९०६. अर्थ ध्येय को कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिए जाते हैं। व्यञ्जन का अर्थ वचन है तथा काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। संक्रान्ति का अर्थ

श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गृह्णाति योगान्तरं च त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते। तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं च पूर्वोदितगुप्त्यादिबहुप्रकारोपायं संसारनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति कृतपरिकर्मा। तत्र द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थव्यंजने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति। स एव पुनः समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धियोगविशेषमाश्रित्य बहुतरणां ज्ञानावरणसहायीभूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुबन्धन् स्थितिह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो निवृत्तार्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमनाः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्मा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम्। एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धवातिकर्मेन्धनः प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलो मेघपञ्जरनिरोधनिर्गत इव धर्मरश्मिर्वा भासमानो भगवांस्तीर्थकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभि-

---

परिवर्तन है। द्रव्य को छोड़कर पर्याय को प्राप्त होता है और पर्याय को छोड़ द्रव्य को प्राप्त होता है — यह अर्थ संक्रान्ति है। एक श्रुतवचन का आलम्बन लेकर दूसरे वचन का आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचन का आलम्बन लेता है — यह व्यंजन संक्रान्ति है। काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर काययोग को स्वीकार करता है — यह योग संक्रान्ति है। इस प्रकार के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। सामान्य और विशेष रूप से कहे गए इस चार प्रकार के धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकार के उपायों से युक्त होने पर संसार का नाश करने के लिए जिसने भले प्रकार से परिकर्म को किया है ऐसा मुनि ध्यान करने के योग्य होता है। जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साह से युक्त बालक अव्यवस्थित और मौथरे शस्त्र के द्वारा भी चिरकाल में वृक्ष को छेदता है उसी प्रकार चित्त की सामर्थ्य को प्राप्त कर जो द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु का ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचन में पृथक्त्व रूप से संक्रमण करने वाले मन के द्वारा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को धारण करने वाला होता है। पुनः जो समूल मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धिविशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की ज्ञानावरण की सहायीभूत प्रकृतियों के बन्ध को रोक रहा है, जो कर्मों की स्थिति को न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त है, जो अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति से रहित है, निश्चल मन वाला है, क्षीणकषाय है और वैडूर्यमणि के समान निरुपलेप है वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता है। इस प्रकार उसके एकत्ववितर्क ध्यान कहा गया

गमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुषः पूर्वकोटीं देशोनां विहरति। स सदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थिति-वेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्वं बाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति। यदा पुनरन्तर्मुहूर्त-शेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मत्रयो भवति सयोगी तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणुपरि-शातनशक्तिस्वाभाव्याद्दण्डक-पाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकाय-वाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रिया-निवर्तीत्युच्यते। तस्मिन्समुच्छिन्न-क्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातन-सामर्थ्योपपत्तेरयोगिकेवलिनः संपूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते।

है। इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा जिसने चार घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है, जिसके केवलज्ञानरूपी किरणसमुदाय प्रकाशित हो गया है, जो मेघमण्डल का निरोध कर निकले हुए सूर्य के समान भासमान हो रहा है ऐसे भगवान्, तीर्थंकर केवली या सामान्य केवली इन्द्रों के द्वारा आदरणीय और पूजनीय होते हुए उत्कृष्ट रूप से कुछ कम पूर्व कोटि काल तक विहार करते हैं। वह जब आयु में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति आयु कर्म के बराबर शेष रहती है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और बादरकाययोग को त्यागकर तथा सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करता है परन्तु जब उन सयोगी जिन के आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और शेष तीन कर्मों की स्थिति उससे अधिक शेष रहती है तब जिन्हें सातिशय आत्मोपयोग प्राप्त है, जिन्हें सामायिक का अवलम्बन है, जो विशिष्ट करण से युक्त हैं, जो कर्मों का महासंवर कर रहे हैं और जिनके स्वल्पमात्रा में कर्मों का परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने आत्मप्रदेशों के फैलने से कर्मरज को परिशातन करने की शक्ति वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को चार समयों के द्वारा करके अपने पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करते हैं। इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यान को आरम्भ करते हैं। इसमें प्राणापान के प्रचाररूप क्रिया का तथा सब प्रकार के काययोग, वचनयोग और मनोयोग के द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप क्रिया का उच्छेद हो जाने से इसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान कहते हैं। इस समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान में सब प्रकार के कर्मबन्ध के आस्रव

स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदा सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदा ध्यानातिशयाग्निनिर्दग्धसर्वमलक-लंकबन्धनो निरस्तकिट्टधातु-पाषाणजात्यकनकबल्लब्धात्मा परिनिर्वाति। तदेतद् द्विविधं तपोऽभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात्संवरकारणं प्राक्तनकर्मरजोविधूननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि भवति[१]।

का निरोध हो जाने से तथा बाकी के बचे सब कर्मों के नाश करने की शक्ति के उत्पन्न हो जाने से अयोगिकेवली के संसार के सब प्रकार के दुःखजाल के सम्बन्ध का उच्छेद करने वाला सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र, ज्ञान और दर्शनरूप साक्षात् मोक्ष का कारण उत्पन्न होता है। वे अयोगिकेवली भगवान् उस समय ध्यानातिशयरूप अग्नि के द्वारा सब प्रकार के मल-कलंकबन्धन को जलाकर और किट्ट धातु व पाषाण का नाशकर शुद्ध हुए सोने के समान अपने आत्मा को प्राप्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह दोनों प्रकार का तप नूतन कर्मों के आस्रव के निरोध का हेतु होने से संवर का कारण है और प्राक्तन कर्मरूपी रज के नाश करने का हेतु होने से निर्जरा का भी हेतु है।

-उपसंहार-

इन १२ प्रकार के तपों का आचरण मुख्यरूप से मुनियों के लिये ही है फिर भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार श्रावक-श्राविकायें भी यथायोग्य अनुष्ठान करते हैं। अनेक प्रकार के वृहत्पल्य, नंदीश्वर, पंचमेरु, सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों के अनुष्ठान, कर्मदहन, जिणगुणसंपत्ति व्रत, सोलहकारण, दशलक्षण, रत्नत्रय आदि व्रत मुनि, आर्यिका व श्रावक-श्राविका आदि भी करते हैं।

ऐसे ही प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय आदि भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार गृहस्थाश्रम में रहने वाले भी करते हैं।

आज का किया गया अनशन आदि का अभ्यास ही आगे सल्लेखना की सिद्धि में व ध्यान की सिद्धि में सहायक होगा ऐसा निश्चय करके इन १२ प्रकार के तपों में अत्यन्त प्रीति रखना चाहिये।

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ. ३४५ से ३६१ तक।

प्रशस्ति

[१]नवत्रिपंचद्व्यंकेऽस्मिन्, वीराब्दे कार्तिके सिते।[२]
द्वितीयायामयं ग्रन्थः, तपोवृद्ध्यै प्रपूर्यते।।

गणधरादिभिः प्रोक्तं, द्वादशतप आगमे।
गणिनी ज्ञानमत्येदं, शास्त्रं संकलितं ध्रुवं।।

हस्तिनागपुरे तीर्थे, शांतिनाथस्य शासनम्।
यावत्तावदयं ग्रन्थः, सुपथं दर्शयेद् भुवि।।

अर्थ—वीर निर्वाण संवत् २५३९, कार्तिक शुक्ला द्वितीया तिथि में अपने तप की वृद्धि करने के लिये मैंने यह ग्रन्थ पूर्ण किया है। गणधर देव आदि पूर्वाचार्यों ने आगम में बारह प्रकार के तपों का वर्णन किया है। ज्ञानमती गणिनी मेरे द्वारा उन आगमों से यह ग्रन्थ संकलित किया गया है।।१-२।।

हस्तिनापुर तीर्थ पर जब तक भगवान शांतिनाथ का शासन विद्यमान रहे तब तक पृथ्वीतल पर यह ग्रन्थ भव्यों को मोक्षमार्ग दिखलाता रहे।।३।।

१. वीर नि. सं. २५२९ (सन् २०१२)
२. कार्तिक शु०, पुश्पदंतनाथ केवलज्ञानतिथि।

गणधरवलय मंत्राः

(श्री गौतमस्वामी रचित)

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।१।।

णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं, णमो परमोहिजिणाणं, णमो सव्वोहिजिणाणं, णमो अणंतोहिजिणाणं, णमो कोट्ठबुद्धीणं, णमो बीजबुद्धीणं, णमो पादाणुसारीणं, णमो संभिण्णसोदाराणं, णमो सयंबुद्धाणं, णमो पत्तेयबुद्धाणं, णमो बोहियबुद्धाणं, णमो उजुमदीणं, णमो विउलमदीणं, णमो दसपुव्वीणं, णमो चउदसपुव्वीणं, णमो अट्ठंग-महा-णिमित्त-कुसलाणं, णमो विउव्व-इड्ढि-पत्ताणं, णमो विज्जाहराणं, णमो चारणाणं, णमो पण्णसमणाणं, णमो आगासगामीणं, णमो आसीविसाणं, णमो दिट्ठिविसाणं, णमो उग्गतवाणं, णमो दित्ततवाणं, णमो तत्ततवाणं, णमो महातवाणं, णमो घोरतवाणं, णमो घोरगुणाणं, णमो घोर परक्कमाणं, णमो घोरगुणबंभयारीणं, णमो आमोसहिपत्ताणं, णमो खेल्लोसहिपत्ताणं, णमो जल्लोसहिपत्ताणं, णमो विप्पोसहिपत्ताणं, णमो सव्वोसहिपत्ताणं, णमो मणबलीणं, णमो वचिबलीणं, णमो कायबलीणं, णमो खीरसवीणं, णमो सप्पिसवीणं, णमो महुरसवीणं, णमो अमियसवीणं, णमो अक्खीणमहाणसाणं, णमो वड्ढमाणाणं, णमो सिद्धायदणाणं, णमो भयवदो महदि-महावीर-वड्ढमाण-बुद्धरिसीणो चेदि।

जस्संतियं धम्मपहं णियच्छे, तस्संतियं वेणइयं पउंजे।
काएण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण।।१।।

गणधरवलय स्तोत्र

(श्री सकलकीर्ति आचार्यकृत)

जिनान् जिताराति-गणान् गरिष्ठान्, देशावधीन् सर्वपरावधींश्च।
सत्कोष्ठ-बीजादि-पदानुसारीन्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।१।।

संभिन्नश्रोत्रान्वित-सन्मुनीन्द्रान्, प्रत्येकसम्बोधित-बुद्धधर्मान्।
स्वयंप्रबुद्धांश्च विमुक्तिमार्गान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।२।।

द्विधा-मनःपर्ययचित्प्रयुक्तान्, द्विपंचसप्त-द्वयपूर्वसक्तान्।
अष्टाङ्गनैमित्तिक-शास्त्रदक्षान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।३।।

विकुर्वणाख्यर्द्धि-महाप्रभावान्, विद्याधरां-श्चारणप्रर्द्धिप्राप्तान्।
प्रज्ञाश्रितान्नित्यखगामिनश्च, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।४।।

आशीर्विषान् दृष्टिविषान्- मुनीन्द्रा-नुग्रातिदीप्तोत्तम-तप्ततप्तान्।
महातिघोर-प्रतपःप्रसक्तान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।५।।

वन्द्यान् सुरैर्घोरगुणांश्च लोके, पूज्यान् बुधैर्घोरपराक्रमांश्च।
घोरादिसंसद्-गुणब्रह्मयुक्तान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।६।।

आमर्द्धिखेलर्द्धि-प्रजल्लविट्प्र-सर्वर्द्धिप्राप्तांश्च व्यथादिहंतृन्।
मनोवचःकाय-बलोपयुक्तान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।७।।

सत्क्षीरसर्पि-र्मधुरा-मृतर्द्धीन्, यतीन् वराक्षीण-महानसांश्च।
प्रवर्धमानां-स्त्रिजगत्-प्रपूज्यान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।८।।

सिद्धालयान् श्रीमहतोऽतिवीरान्, श्रीवर्द्धमानर्द्धि-विबुद्धिदक्षान्।
सर्वान् मुनीन् मुक्तीवरानृषीन्द्रान्, स्तुवे गणेशानपि तद्गुणाप्त्यै।।९।।

नृसुर-खचरसेव्या विश्वश्रेष्ठर्द्धिभूषा
विविधगुणसमुद्रा मारमातङ्गसिंहाः।
भवजलनिधिपोता वन्दिता मे दिशन्तु
मुनिगण-सकलान् श्रीसिद्धिदाः सदृषीन्द्रान्।।१०।।